आचार्य अमृतचन्द्र

और उनका

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

शुद्धात्मप्रभा

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापू नगर, जयपुर ३०२००४

[श्री टोडरमल ग्रन्थमाला का ४१वाँ पुष्प]

आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

[राजस्थान विश्वविद्यालय की एम० ए० संस्कृत परीक्षा के तृतीय प्रश्न-पत्र के विकल्प में प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध]

लेखिका :

शुद्धात्मप्रभा

प्रकाशक :

पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रथम संस्करण : ३०००
दिनांक २७ नवम्बर, १९७७

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : दो रुपये
सजिल्द : तीन रुपये

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

'आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक लघु शोधप्रबन्ध प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। यद्यपि अब तक 'पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट' एक दशक में चालीस प्रकाशन (उनकी अनेक आवृत्तियों सहित सात लाख की संख्या में) प्रकाशित कर चुका है तथापि शोध प्रबंधों की शृंखला में यह दूसरा प्रकाशन है।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी परमपूज्य आचार्य अमृतचन्द्र की महिमा गाते अघाते नहीं हैं। उनसे उनकी महिमा सुनकर यह विचार बार-बार आता था कि आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी के समान आचार्य अमृतचन्द्र पर भी शोधकार्य होना चाहिए।

जब चि० शुद्धात्मप्रभा ने एम० ए० (उत्तरार्द्ध) के तृतीय प्रश्नपत्र के लिए आचार्य अमृतचन्द्र पर लघु शोधप्रबन्ध लिखना आरम्भ किया तो मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। पंडित टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की व्यवस्था के संदर्भ में इधर मेरा जयपुर रहना अधिक हुआ। इस कारण उक्त शोधकार्य को देखने का भी मौका मिला।

मैंने इसके शीघ्र प्रकाशन की इच्छा जाहिर की और अनन्य सहयोगी डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से इसे सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छी तरह देख लेने का अनुरोध किया। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके सामने है।

डॉ० गंगाधर भट्ट एवं श्री महावीरप्रसादजी जैन आदि सहयोगियों की कृपा से हमें विश्वविद्यालय से इसके प्रकाशन की अनुमति प्राप्त हो गई है जिसके लिये हम उनके आभारी हैं।

इसकी लेखिका चि० शुद्धात्मप्रभा के लिए क्या लिखें! हम उसके आध्यात्मिक और लौकिक सुन्दर भविष्य की कामना करते हैं और भावना भाते हैं कि वह अपने जीवन में आर्षग्रन्थों का अध्ययन-मनन कर आत्महित साधन करे तथा उसके माध्यम से और भी अनेक साहित्यिक कार्य संपन्न हों।

नेमीचंद पाटनी
मंत्री
पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

अपनी बात

भाषा-शैली और दार्शनिक दृष्टिकोण से अध्ययन और अनुसंधान के योग्य प्रकाशित और अप्रकाशित जिनधर्म संबंधी विपुल सामग्री दक्षिण भारत और राजस्थान के ग्रन्थ भंडारों में भरी पड़ी है, जो शोधार्थी छात्रों और विद्वानों की निरन्तर प्रतीक्षा कर रही है। जैन आचार्यों एवं आध्यात्मिक विद्वानों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषा में रचित उच्चकोटि का विशाल साहित्य आज तक मात्र इसीलिए उपेक्षा का विषय बना रहा कि वह सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित था। यद्यपि उसका गुणात्मक व परिमाणात्मक दृष्टि से किसी भी प्रकार कम महत्त्व न था तथापि वह उपेक्षित रहा।

यद्यपि विगत दो-तीन दशकों से इस ओर शोधार्थियों का ध्यान अवश्य गया है तथापि जिस स्तर पर काम होना चाहिए था, नहीं हो पा रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र भी संस्कृत भाषा और जिन-अध्यात्म के एक चमकते सितारे हैं। वे भी उक्त उपेक्षा के शिकार बने रहे। उन पर भी आज तक कोई स्तरीय शोधकार्य नहीं हो सका है।

यद्यपि उनका साहित्य सैकड़ों वर्षों से प्रकाशित है तथा जैन विद्वानों के बीच थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा भी जाता रहा है, उनकी प्रकाशित कृतियों की भूमिका के रूप में उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर थोड़ा-बहुत प्रकाश भी डाला जाता रहा है, इधर कुछ दिनों से पूज्य कानजी स्वामी द्वारा उनकी कृतियों पर निरन्तर विशद प्रवचन किए जाने से जैन समाज के स्तर पर काफी प्रचार व प्रसार हुआ है, उनकी कृतियाँ जैन समाज में जन-जन की वस्तुएँ बन गई हैं; तथापि विश्वविद्यालयी स्तर पर जैसा कार्य होना चाहिए था वैसा अभी तक नहीं हो सका है।

मेरे पूज्य पिताजी डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के जिन-शास्त्रों के गंभीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन और शोधकार्य को देखकर मुझमें भी जिन-शास्त्रों के अनुसंधान कार्य करने की भावना, जब मैं हायरसैकण्डरी में पढ़ती थी, तभी से उत्पन्न हो गई थी। जब वे किसी नवागत शोधार्थी से आचार्य अमृतचन्द्र के बारे में शोध-खोज करने के लिए कहते और अपना पूरा-पूरा सहयोग देने के लिए तत्पर रहते, तभी से मेरे मन में आचार्य अमृतचन्द्र के बारे में कार्य करने की उत्सुकता जग गई थी।

इस तरह मैं मानती हूँ कि यह रुचि मेरी पैतृक एवं पारिवारिक संपत्ति है।

जब एम० ए० (उत्तरार्द्ध) के तृतीय प्रश्नपत्र के रूप में शोध-निबंध लिखने का प्रसंग आया तो मैंने आदरणीय गुरुवर्य डॉ० गंगाधर भट्ट, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय से इस विषय पर कार्य करने की अनुमति मांगते हुए उपर्युक्त भूमिका भी उन्हें बताई। उन्होंने मुझे सहर्ष इस विषय पर कार्य करने की अनुमति प्रदान कर दी। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके समक्ष प्रस्तुत है।

यद्यपि यह कृति न तो आचार्य अमृतचन्द्र का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करती है और न ही इस लघुकृति में इतना अवकाश ही था कि उनके समग्र व्यक्तित्व और कर्तृत्व को इस लघु कृति में पूरी तरह समेट सकूँ; फिर भी 'कुछ न होने से कुछ होना अच्छा' के अनुसार यह प्रयास किया है।

विषय को सीमित रखने के लिए उनके सिर्फ एक ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' को ही विशेषकर शोध का विषय बनाया गया है। यदि भविष्य में अवसर मिला तो आचार्य अमृतचन्द्र पर गुरु-गंभीर और विशाल कार्य करने की भावना मेरे हृदय में विद्यमान है।

प्रस्तुत कृति पांच अध्यायों में विभक्त है :–

प्रथम अध्याय में आचार्य अमृतचन्द्र के जीवनवृत्त और व्यक्तित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय में उनकी रचनाओं का एक संक्षिप्त परिचयात्मक अनुशीलन किया गया है।

तृतीय अध्याय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के वर्ण्य-विषय की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

चतुर्थ अध्याय में आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा-शैली एवं कलात्मक पक्ष पर विचार किया गया है।

पंचम अध्याय में समग्र विषय को समेट कर उपसंहार किया गया है।

अन्त में संदर्भ ग्रन्थों की सूची के रूप में एक परिशिष्ट भी दे दिया गया है।

परमपूज्य आचार्य अमृतचन्द्र के स्मरण के पश्चात् मैं पूज्य कानजी स्वामी के उपकार का स्मरण करना चाहूँगी कि जिनके मुख से 'आत्मख्याति' की व्याख्या सुनकर मुझे आचार्य अमृतचन्द्र के अध्यात्म का रस लगा है।

तदनन्तर मैं पूज्य पिताश्री डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल को भी नहीं भूल सकती – जिन्होंने इस कार्य में तो आद्योपान्त पूरा-पूरा सहयोग दिया ही है, वरन् जैन दर्शन की लगभग सारी शिक्षा एवं संस्कार भी मुझे उन्हीं से प्राप्त हुए हैं।

इसके बाद आदरणीय गुरुवर्य डॉ० गंगाधर भट्ट साहब का भी उपकार मैं कैसे भूल सकती हूँ कि जिनके निर्देशन में यह शोधकार्य सम्पन्न हुआ है तथा जिनका पूरा-पूरा मार्गदर्शन निरन्तर प्राप्त होता रहा है।

सम्माननीय पंडित श्री लालचंदभाई अमरचंद मोदी, बम्बई का मंगल आशीर्वाद भी मुझे इस कृति के लिए प्राप्त रहा है। जब वे 'पंडित टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय' के उद्घाटन अवसर पर पधारे थे और १५ दिन तक जयपुर रहे थे तब इस कृति को देखकर उन्होंने बहुत-बहुत प्रसन्नता व्यक्त की और मेरे उत्साह को बढ़ाया।

श्रीमान् आदरणीय सेठ साहब पूरनचन्दजी गोदीका का भी स्मरण किए बिना मैं नहीं रह सकती जिनके द्वारा संस्थापित स्मारक भवन में बैठकर यह कृति लिखी गई है और इसका प्रकाशन भी उन्हीं के द्वारा संस्थापित 'पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट' से ही हो रहा है।

आदरणीय विद्वद्वर्य श्री नेमीचन्दजी पाटनी का उपकार भी भूलना संभव नहीं है – जिन्होंने इस कृति के प्रति अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव ही नहीं दिए वरन् इतनी शीघ्र इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर मेरे उत्साह को बढ़ाया है।

अंत में आदरणीय श्री सोहनलालजी, श्री राजमलजी एवं समस्त जयपुर प्रिण्टर्स परिवार का भी उपकार मानती हूँ, जिन्होंने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी कुछ ही दिनों में इस कृति को इतने शुद्ध एवं सुन्दर रूप में मुद्रित करने की कृपा की है।

जिन-जिन ग्रन्थों व ग्रन्थकारों का प्रत्यक्ष व परोक्षरूप में सहयोग प्राप्त हुआ है उनका यथासंभव यथा-स्थान उल्लेख कर ही दिया गया है।

यह कृति जैसी भी बन पड़ी है, आपके हाथों में है। समुचित सुझावों के सानुरोध निवेदन के साथ –

शुद्धात्मप्रभा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व ९–१८

जीवनवृत्त १०–१४

नाम १०, कुल ११, समय १२

व्यक्तित्व १४–१८

द्वितीय अध्याय

रचनाएँ और उनका परिचयात्मक अनुशीलन १९–४२

आत्मख्याति २३, तत्त्वदीपिका २६, समयव्याख्या ३०,
तत्त्वार्थसार ३२, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३७,
परमाध्यात्मतरंगिणी ४१

तृतीय अध्याय

वर्ण्य-विषय ४३–७९

सम्यग्दर्शन ४३–४६

सम्यग्ज्ञान ४६–४९

सम्यक्चारित्र ४९–७६

अहिंसा-हिंसा ५३, सत्य-असत्य ६६, अचोरी-चोरी ६८,
ब्रह्म-अब्रह्म ६९, अपरिग्रह-परिग्रह ६९

अणुव्रत और महाव्रत ७१

सप्त शीलव्रत ७१

गुणव्रत – दिग्व्रत ७१, देशव्रत ७२, अनर्थदण्डत्यागव्रत ७२

शिक्षाव्रत – सामायिक ७३, प्रोषधोपवास ७३,
भोगोपभोगपरिमाणव्रत ७४,
अतिथिसंविभागव्रत ७४

सल्लेखना ७५

अतिचार ७५

सकलचारित्र ७५

विविध विचार ७७–७९

रत्नत्रय बंध का कारण नहीं ७७, जैनीनीति ७७,
निश्चय-व्यवहारनय ७८, वक्ता-श्रोता ७९

चतुर्थ अध्याय

भाषा-शैली ८०–९२

छन्द ८८, रस ९०, अलंकार ९०

पंचम अध्याय

उपसंहार ९३–९८

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रंथ-सूची ९९–१००

प्रथम अध्याय

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक कृति के लेखक के साहित्य से हम जितने परिचित हैं उतने ही उनके जीवन से अपरिचित। आपने किस समय, किस स्थल को अपने पावन चरणों से अलंकृत किया, आपके माता-पिता कौन थे, आदि बातों से हम पूर्णतः अनभिज्ञ हैं।

उन्होंने स्वयं के संबंध में अपनी कृतियों में कहीं भी कुछ नहीं लिखा है।

अपने में ही मस्त रहने वाले निःस्पृही महापुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है। जहाँ वे करुणाविगलित हो शिष्यों के अज्ञानांधकार दूर करने को एवं सत्यपथ प्रकाशन हेतु हजारों पृष्ठ लिखने पर भी संतुष्ट नहीं होते वहीं अपने बारे में मौन प्रकाशन को ही श्रेष्ठ समझते हैं। लेकिन इस मौन द्वारा भी वे अपने व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएँ उजागर कर ही देते हैं।

अतः शब्दों में अनभिव्यक्त उनके अंतर्बाह्य व्यक्तित्व को जानने का एकमात्र साधन उनकी कृतियाँ हैं जिनमें यत्र-तत्र अनायास ही उनका व्यक्तित्व प्रतिबिंबित हो गया है।

जीवनवृत्त

नाम

'तत्त्वदीपिका' नाम की प्रवचनसार की टीका के अंत में 'व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति'[१]; 'आत्मख्याति' नाम की समयसार की टीका के अंत में तथा पंचास्तिकाय संग्रह की 'समयव्याख्या' टीका के अंत में 'कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्र सूरेः'[२] लिखकर आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वयं अपने नामके साथ 'सूरि' अर्थात् 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया है।

समयसार की भाषाटीका पूर्ण करते हुए पं० जयचन्दजी ने भी 'सूरि' पद से विभूषित कर इनका उल्लेख किया है :–

'सुधाचन्द्रसूरि करी संस्कृत टीकावर
आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूँ।'

तत्त्वार्थसार के टीकाकार ने भी आचार्य अमृतचन्द्र के साथ 'सूरि' विशेषण लगाया है :–

'अमृतेन्दुर्महासूरिर्नानानयविशारदः'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सूरि' विशेषण उनके नाम के साथ इतना घुल-मिल गया है कि विशेषण-सा प्रतीत ही नहीं होता।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के टीकाकार ने इन्हें 'मुनीन्द्र' उपाधि से विभूषित करते हुए ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है :–

'अमृतचन्द्रमुनीन्द्र कृत ग्रन्थ श्रावकाचार'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'मुनीन्द्र', 'आचार्य' जैसी उपाधियाँ उनके नाम के साथ इस प्रकार जुड़ गई हैं कि बिना इनके प्रयोग के नाम अधूरा-सा लगता है। यही कारण है कि स्वभाव से निरभिमानी आचार्य अमृतचंद्र स्वयं ही इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में कर गए हैं। उन्हें ऐसा भान ही नहीं होता था कि ये मेरी उपाधियाँ हैं जो कि मुनिसंघ के अधिपतित्व के कारण मेरे साथ जुड़ीं हैं।

जैन परम्परा में पंचपरमेष्ठी में एक आचार्य पद भी है और यह पद नग्न दिगम्बर साधु को ही प्राप्त होता है। आज से २१० वर्ष

---

[१] प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका, परिशिष्ट, श्लोक २१

[२] समयसार, आत्मख्याति, श्लोक २७८

पूर्व हुए आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने आचार्य के स्वरूप को दर्शाते हुए मोक्षमार्ग प्रकाशक में लिखा है :–

"उनमें (मुनियों में) जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके संघ में नायक हुए हैं; तथा जो मुख्य रूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव – याचक – उनको देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं, जो दीक्षा-ग्राहक हैं उनको दीक्षा देते हैं, जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं उनको प्रायश्चित विधि से शुद्ध करते हैं। – ऐसे आचरण अचराने वाले आचार्य उनको हमारा नमस्कार हो[1]।"

इन गुणों से युक्त होने के कारण ही अमृतचन्द्राचार्य 'आचार्य' पदवी से विभूषित हैं।

उनके नाम के साथ लगे उपर्युक्त विशेषणों से ही हम उनके अगाध पाण्डित्य का अनुमान कर सकते हैं। वे केवल मुनि ही नहीं, मुनियों में भी श्रेष्ठ हैं।

कुल

सागार धर्मामृत, अनागार धर्मामृत आदि अनेक विशाल, गंभीर ग्रन्थों को संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध करने वाले बारहवीं सदी के प्रसिद्ध विद्वान् पंडित आशाधरजी ने अनागार धर्मामृत की भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका में अमृतचन्द्राचार्य को दो स्थानों पर 'ठक्कुर' नाम से अभिहित किया है :–

(१) एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत् लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे। पृष्ठ १६०

(२) एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचित समयसार-टीकायां द्रष्टव्यम्। पृष्ठ ५८८

ठक्कुर व ठाकुर एकार्थवाची शब्द हैं। प्रायः राजघराने के लोग इस पद का व्यवहार करते थे। अतः प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्राचार्य भी उच्च क्षत्रिय राजघराने से सम्बन्धित रहे होंगे।

---

[1] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ४

समय

लोक-प्रशंसा से दूर रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के समय के बारे में भी निश्चित जानकारी नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें १२वीं शती का मानते हैं, तो कुछ १०वीं का, तो कुछ १०वीं से १२वीं के मध्य उनका समय मान लेते हैं। पूर्ववर्त्ती ग्रन्थकारों के प्रभाव एवं परवर्त्ती ग्रंथों, ग्रंथकारों के उल्लेखों के आधार पर हम इनके समय के बारे में कुछ अनुमान अवश्य लगा सकते हैं।

तत्त्वार्थसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने विक्रम सम्वत् ७०० के सुप्रसिद्ध विद्वान न्यायवेत्ता अकलकदेव के तत्त्वार्थवार्त्तिक का विशेष उपयोग किया है। तत्त्वार्थवार्त्तिक के वार्त्तिकों को श्लोक रूप में निबद्ध किया है। अतः सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्राचार्य अकलंकदेव के पश्चात् हुए।

पं० आशाधरजी द्वारा विरचित अनागार धर्मामृत की भव्य-कुमुदचन्द्रिका टीका में उल्लिखित 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृत-चन्द्रसूरि विरचित समयसार टीकायां द्रष्टव्यम्' से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अमृतचन्द्राचार्य अनागार धर्मामृत की टीका के पूर्व हो चुके थे व इस समय तक इतनी प्रसिद्धि को भी प्राप्त हो चुके थे।

अनागार धर्मामृत की टीका विक्रम संवत् १३०० में समाप्त हुई थी। अतः वे इसके पश्चात् नहीं हुए, यह तो स्पष्ट ही हो गया।

डा० ए० एन० उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में तात्पर्य-वृत्ति के कर्त्ता आचार्य जयसेन का समय ईसा की बारहवीं सदी का उत्तरार्द्ध अर्थात् विक्रम की तेरहवीं सदी का प्रारम्भ अनुमान किया है और जयसेन अमृतचन्द्राचार्य की तत्त्वदीपिका से परिचित प्रतीत होते हैं, अतः अमृतचन्द्राचार्य को इनसे पहले होने के कारण विक्रम की बारहवीं सदी के पश्चात् नहीं कह सकते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने अमृतचन्द्राचार्य के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का ११६वाँ श्लोक अपने ज्ञानार्णव के सोलहवें सर्ग में ६ठे व ८वें श्लोक के मध्य 'उक्त च' कहकर उद्धृत किया है। शुभचन्द्र का समय ग्यारहवीं शती माना जाता है। अतः वे ग्यारहवीं शती के पूर्व हुए होंगे, इसके पश्चात कदापि नहीं।

आचार्य जयसेन के धर्मरत्नाकर में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक उद्धृत हैं। धर्मरत्नाकर एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसे ग्रंथकार ने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रंथों के पद्यों का संग्रह कर माला की तरह रचा है और इसकी सूचना उन्होंने ग्रंथ के अन्त में निम्न प्रकार दी है :–

इत्येतैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि।
भूतोऽवद्य गुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः ।।

इस ग्रन्थ की रचना १०५५ वि० सं० में सकलीकर हाटक नगर में पूर्ण हुई थी, यह उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है :–

वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके ।।

अतः सिद्ध है कि अमृतचन्द्राचार्य १०५५ वि० सं० से पूर्व हुए होंगे।

पं० कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य ने जैन संदेश शोधांक ५ में 'कुछ आचार्यों के कालक्रम पर विचार' शीर्षक में अमृतचन्द्राचार्य को १०५५ विक्रम संवत् से पूर्ववर्त्ती कहा है।

विक्रम की ग्यारहवीं शती के तृतीय चरण के विद्वान् अमितगति के पंचसंग्रह व अमृतचन्द्राचार्य के तत्त्वार्थसार में अनेक श्लोक छाया-प्रतिच्छाया रूप में उपलब्ध होते हैं। जैसे – तत्त्वार्थसार का ५०वाँ व पंचसंग्रह का १४३वाँ श्लोक क्रमशः द्रष्टव्य है :–

यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात्।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युःस्पर्शनं नैकसंस्थितिः ।।५०।।त० सा०

यवनालिमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभाः।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधा कृतिः।।१४३।।पं०सं०

इसी प्रकार तत्त्वार्थसार का ५३वाँ व पंचसंग्रह का १४७वाँ, त० सा० का ५४वाँ व पं० सं० का १४८वाँ, तथा त० सा० का ५५वाँ व पंचसंग्रह का १४९वाँ श्लोक भी द्रष्टव्य है।

यहाँ पर पंचसंग्रहकार के लेखक पर ही तत्त्वार्थसार के लेखक का प्रभाव पड़ा है, यह कहना ही उचित है। इससे विपरीत कथन उचित नहीं, क्योंकि अमितगति द्वारा रचित अमितगतिश्रावकाचार में अनेकों श्लोक अमृतचन्द्राचार्य रचित श्रावकाचार ग्रन्थ पुरुषार्थ-

सिद्धयुपाय के श्लोकों से अनुप्राणित हैं; ऐसा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सिद्ध होता है।

अतः अमृतचंद्र अमितगति से पूर्ववर्त्ती हैं, परवर्त्ती नहीं। अमितगति ने अपना पंचसंग्रह वि० सं० १०७३ में पूर्ण किया था। अतः अमृतचंद्र इससे भी पूर्व हुए होंगे। इन अमितगति के दादागुरु नेमिषेणाचार्य के भी गुरु अमितगति प्रथम ने योगसार की रचना की थी। यह कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृतभाषा निबद्ध समयसार का संस्कृत रूपान्तर है। इसमें पुण्य और पाप में भेदाभेद के वर्णन में तत्त्वार्थ-सार का अनुकरण किया है।

स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने तत्त्वानुशासन की अपनी प्रस्तावना में पृष्ठ ३४ पर स्वीकार किया है कि अमितगति प्रथम के योगसारप्राभृत पर भी अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं का प्रभाव लक्षित होता है। प्रथम अमितगति का समय अमितगति द्वितीय से कोई ४०-५० वर्ष पूर्व का होगा, अतः अमृतचन्द्र का समय १०वीं शताब्दी का तृतीय चरण होना चाहिए।

व्यक्तित्व

महान आध्यात्मिक संत आचार्य अमृतचन्द्र अनेकानेक गंभीर ग्रन्थों के प्रणेता, आत्मानुभवी, दिग्गज विद्वान्; किन्तु निरभिमानी प्रतिष्ठित दिगम्बराचार्य थे।

लोकेषणा से दूर अपने ज्ञानस्वभाव में रमे रहने वाले अमृत-चन्द्राचार्य समयसार की टीका (आत्मख्याति) के अंतिम कलश में अपने लाघव को प्रगट करते हुए अपनी निरभिमानता का तथा अपना परिचय सहज ही स्वयं दे गए हैं। वे कहते हैं :–

जिन शब्दों ने अपनी शक्ति से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भली भाँति कहा है उन शब्दों के द्वारा समयसार नामक शास्त्र की टीका अथवा आत्म-वस्तु का व्याख्यान किया गया है। अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूप में रहने वाले अमृतचन्द्र सूरि का इस ग्रन्थ में कुछ भी कर्त्तापन नहीं है। उन्हीं के शब्दों में :–

'स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ।।२७८।।

उपर्युक्त कलश में जहाँ प्रथम, द्वितीय व चतुर्थ चरण में उनकी निरभिमानता के दर्शन होते हैं; तो वहाँ ही तृतीय चरण में 'स्वरूप-गुप्तस्य' इस पद से उनके कार्य का ज्ञान होता है।

उनके अनुसार उनका एकमात्र कार्य स्वरूप में गुप्त रहना है, उसके ही वे कर्त्ता हैं; शास्त्रादि की रचना के कर्त्ता नहीं, उसके कर्त्ता तो शब्द हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वे स्वयं को 'स्वरूप-गुप्त' कहने में गौरव अनुभव करते हैं, ग्रन्थादि के रचनाकार बनने में नहीं; क्योंकि दिगम्बर मुनिराजों का सर्वोत्कृष्ट कार्य तो स्वरूप-रमणता ही है। जब वे अपनी कमजोरी के कारण स्वरूप में रमण नहीं कर पाते तब ग्रंथ-रचनादि, उपदेश-प्रदानादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं तथापि उन कार्यों से अपने को गौरवान्वित अनुभव नहीं करते।

'यह व्याख्येय है, यह व्याख्या है और मैं इसका व्याख्याता हूँ,' ऐसा मानने को तो उन्होंने मोह में नाचना कहा है।

प्रवचनसार की टीका तत्त्वदीपिका के अन्त में वे लिखते हैं :–

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां,
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्,
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ।।[1]

उपर्युक्त श्लोक में आचार्य अमृतचन्द्र ने स्वयं को ही स्वयं द्वारा संबोधित किया है तथा कर्त्तृत्व बुद्धि को मोह में फँसना कहा है।

वे तो एक मात्र स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा अविनाशी स्वतत्त्व को प्राप्त करके परमानन्द में ही मस्त रहना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतत्त्व का प्रकाशन करते हुए भी उनकी दृष्टि में स्वतत्त्व की प्राप्ति ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तो वे इससे भी आगे बढ़ गए हैं। वे कहते हैं कि तरह-तरह के वर्णों से पद बन गए, पदों से वाक्य और

---

[1] प्रवचनसार, तत्वदीपिका, परिशिष्ट श्लोक २१

वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया, मैंने तो कुछ भी नहीं किया है। उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य हैं उनके भाव :–

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि ।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ।। [१]

जहाँ उन्होंने उपर्युक्त श्लोक में 'अस्माभिः' कहकर ही काम चलाया है, वहाँ तत्वार्थसार में भी इसी तरह के भाव प्रगट करते हुए वे 'वयम्' कहकर ही मौन हो गए हैं :–

वर्णाः पदानां कर्त्तारो वाक्यानां तु पदावलिः ।
वाक्यानि चास्य शास्त्रस्य कर्तृणि न पुनर्वयम् ।। [२]

समयसार की टीका में तो उनका परिचय पराकाष्ठा पर पहुँच गया है । इसमें तो उन्होंने अज्ञानांधकार तथा प्रतिपक्षियों से रहित, बुद्धि की निर्मलता और पूर्णता को प्राप्त अपने को अपने द्वारा अपने में ही लीन रहने वाला घोषित करते हुए श्लेष के माध्यम से स्वभाव को न छोड़ने वाली, मोह को समाप्त करने वाली, कर्मों से रहित, निर्मल और पूर्ण अमृतमय चन्द्रमा के समान जाज्वल्यमान ज्ञानानुभूति का भी वर्णन कर दिया है। वे कहते हैं :–

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ।। [३]

संसार से उदासीन, निर्मोही मुनिराज जब अपना परिचय देते हैं, तो स्वतः ही उनके मुख-निर्झर से ऐसे वचन निःसृत हो जाते हैं ।

परिचय में नाम, काम और धाम इन तीनों की ही मुख्यता रहती है । लोक में जिससे जाना जाए वही नाम कहने में आता है; जो हमेशा करें वही काम कहलाता है; तथा जहाँ रहें, जो स्थायी वास हो वह धाम कहलाता है ।

---

[१] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २२६

[२] तत्त्वार्थसार, नवम अधिकार, उपसंहार, श्लोक २३

[३] समयसार, आत्मख्याति, कलश २७६

ये अमृतचन्द्र सूरि आचार्य अमृतचन्द्र के नाम से विख्यात थे। आत्मा का ज्ञान ही इनका काम था व आत्मा ही उनका स्थायी वास था। अतः यही परिचय उनके शब्दों में स्वतः स्फुरित हो गया।

आचार्य अमृतचन्द्र 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' इस सिद्धान्त को मानने वाले थे। यह मान्यता, यह श्रद्धान केवल देव व गुरु के बारे में ही नहीं था उनका; वरन् 'अनेकान्त' गुण से संयुक्त ग्रन्थों (शास्त्रों) का भी वे पूरा-पूरा आदर करते थे। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[1], समयसार[2], प्रवचनसार[3], पंचास्तिकाय[4] के मंगलाचरणों में यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वे भगवान को नहीं; वरन् उस शुद्धात्मा को नमस्कार करते हैं, स्मरण करते हैं; जिसे अपनाकर, धारणकर भगवान बना जाता है। आत्मख्याति के मंगलाचरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है :-

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्ततरच्छिदे ।।

इसी प्रकार प्रवचनसार की टीका तत्त्वदीपिका में वे ज्ञानानन्दात्मक आत्मा को नमस्कार करते हैं :-

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी परमज्योति को ही स्मरण किया गया है :-

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ।।

---

[1] परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।।२।।

[2] अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ।।२।।

[3] हेलोल्लुप्तंमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्वमनेकान्तमयं महः ।।२।।

[4] दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कारजीवितां जीयाज्जैनी सिद्धांतपद्धतिः ।।

यहाँपर 'शुद्धात्मा', 'ज्ञानानन्दात्मक आत्मा' और 'परम ज्योतिः' तीनों ही एकार्थवाची हैं। दृष्टिभेद से इन्हें विभिन्न नामों से संबोधित किया गया है।

वस्तुतः आचार्य अमृतचन्द्र अनुभूतिमूलक आचार्य हैं। वे शिष्य के प्रश्नों का जवाब भी प्रायः अनुभूति के आधार पर देते हैं। स्वानुभूति सर्वत्र उनकी कृतियों पर छाई हुई है। अनुभूति का उनकी दृष्टि में कितना महत्त्व है ? उन्हीं के शब्दों में :–

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ।।[1]

जिसे हम सबसे अच्छा समझते हैं उसे ही अपने कार्यों के फलस्वरूप पाना चाहते हैं। अपने कार्य के फलस्वरूप आचार्य अमृतचन्द्र स्वानुभूति में वृद्धि चाहते हैं। अतः स्वतः सिद्ध है कि वे स्वानुभूति की प्रकर्षरूपेण प्राप्ति को ही सर्वोत्कृष्ट मानते थे।

इस प्रकार हम देखते है कि विक्रम की दशवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए क्षत्रिय कुलोत्पन्न आचार्य अमृतचन्द्र सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अद्वितीय टीकाकार एवं अनेक मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता, गहन तात्त्विकचिन्तक एवं निरभिमानी अनुभूतिमूलक आचार्य थे। ●

---

[1] समयसार, आत्मख्याति, श्लोक ३

द्वितीय अध्याय

रचनाएँ और उनका परिचयात्मक अनुशीलन

आचार्य अमृतचन्द्र परम आध्यात्मिक संत, रससिद्ध कवि एवम् सफल टीकाकार थे।

आत्म-रस में निमग्न रहने वाले अमृतचन्द्राचार्य की सभी रचनाएँ अध्यात्मरस से ओतप्रोत एवं बेजोड़ हैं। संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपके सभी ग्रंथ संस्कृत भाषा में ही उपनिबद्ध हैं। आपकी रचनाएँ गद्य और पद्य दोनों प्रकार की पाई जाती हैं। गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में आपकी भाषा भावानुवर्त्तिनी, सहज बोधगम्य एवं माधुर्य गुण से युक्त है।

गद्य रचनाओं में आचार्य कुन्दकुन्द के महान ग्रंथों पर लिखी हुई टीकाएँ हैं। अमृतचन्द्राचार्य द्वारा रचित टीकाओं जैसी अन्य टीकाएँ अभी तक किसी अन्य जैन शास्त्र की नहीं हुई हैं। इन टीकाओं में अमृतचन्द्र की अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तु-स्वरूप को न्यायपूर्वक सिद्ध करने की असाधारण शक्ति, जैनदर्शन का अत्यन्त गम्भीर ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का संधिबद्ध निरूपण करने की विरल शक्ति और उत्तम काव्य शक्ति के दर्शन हस्तामलक-वत् होते हैं। साथ ही साथ गंभीर रहस्यों को अत्यन्त संक्षेप में भर देने की उनकी क्षमता विद्वानों को भी आश्चर्यान्वित कर देती है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं :-

(१) आत्मख्याति [समयसार टीका]
(२) तत्त्वदीपिका [प्रवचनसार टीका]
(३) समयव्याख्या [पञ्चास्तिकाय टीका]
(४) तत्त्वार्थसार
(५) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
(६) परमाध्याऽत्मतरंगिणी अथवा समयसार कलश
(७) लघु तत्त्वस्फोट

इनमें प्रथम तीन ग्रंथ – कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध 'नाटकत्रय' अथवा 'प्राभृतत्रय' के नाम से अभिहित किये जाने वाले समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीन उत्तमोत्तम शास्त्रों के भाव को स्पष्ट करने वाली अत्यन्त गंभीर मार्मिक संस्कृत टीकाएँ हैं।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ये तीनों ही ग्रन्थ 'द्वितीय श्रुतस्कंध' के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से अन्यतम हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध में ज्ञान की प्रधानतापूर्वक शुद्धद्रव्यार्थिकनय से कथन होता है तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन होता है जब कि 'प्रथम श्रुत-स्कंध' में मुख्यतः जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न होने वाली आत्मा की संसारपर्याय का, गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का वर्णन है, पर्यायार्थिक नय को प्रधान करके कथन है। इस नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं और अध्यात्म भाषा में इसे अशुद्ध निश्चयनय अथवा व्यवहारनय कहते हैं। द्वितीय श्रुतस्कंध के अन्तर्गत मुख्यतः षट्खंडागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र आते हैं।

इन श्रुतस्कंधों की उत्पत्ति का वर्णन पट्टावलियों के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित समयसार[1] के उपोद्घात के प्रारम्भ में इस प्रकार बतलाया गया है :-

"आज से २४६६ वर्ष पहले..... भगवान श्री महावीर स्वामी अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रगट कर रहे

[1] प्रकाशक : श्री दि० जै० स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ : पंचम आवृत्ति

थे। उनके निर्वाण के पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए; उनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुए। वहाँ तक तो द्वादशांग-शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा। तत्पश्चात् कालदोष से क्रमक्रम से अङ्गों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई। इस प्रकार अपार ज्ञानसिन्धु का बहु भाग विच्छेद हो जाने के पश्चात् दूसरे श्री भद्रबाहु स्वामी आचार्य की परिपाटी में दो महा समर्थ मुनि हुए – एक का नाम श्री धरसेन आचार्य तथा दूसरों का नाम श्री गुणधर आचार्य था। उनसे मिले हुए ज्ञान के द्वारा उनकी परम्परा में होने वाले आचार्यों ने शास्त्रों की रचनाएँ कीं।.....

श्री धरसेन आचार्य को अग्रायणी पूर्व के पंचम वस्तु अधिकार के महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञानामृत में से अनुक्रम से उनके पीछे के आचार्यों द्वारा षट्खंडागम, धवल, महाधवल, जयधवल, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्रों की रचना हुई। इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध की उत्पत्ति है।....

श्री गुणधर आचार्य को ज्ञानप्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तृतीय प्राभृत का ज्ञान था। उस ज्ञान में से उनके पीछे के आचार्यों ने अनुक्रम से सिद्धान्त रचे। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान महावीर से प्रवाहित होता हुआ ज्ञान, आचार्यों की परम्परा से भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव को प्राप्त हुआ। उन्होंने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि शास्त्र रचे। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध की उत्पत्ति हुई।"

कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के प्रारम्भ में हुए थे। दिगम्बर जैन परम्परा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। ये दिगम्बर मत की नींव हैं; जैन दर्शन की रीढ़ हैं। प्रत्येक दिगम्बर जैन, शास्त्राध्ययन प्रारम्भ करते हुए मंगलाचरण में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद आपका स्मरण इस प्रकार करता है :–

मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्॥

परवर्ती ग्रंथों में इनके शास्त्रों में से अनेक अवतरण लिए गए हैं तथा अन्य ग्रंथकार आचार्य अपनी बात की प्रामाणिकता के लिए

कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं। वि० सं० ९९० में हुए श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थ में कहते हैं :–

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति।।

विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त किये हुये दिव्य ज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव ने) बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

षट्प्राभृत की श्री श्रुतसागर सूरि कृत टीका के अन्त में कुन्दकुन्दाचार्य देव को कलिकाल का सर्वज्ञ कहा गया है :–

"पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, ऐलाचार्य, गृध्रपिच्छाचार्य–इन पाँचों नामों से विराजित चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनको ऋद्धि प्राप्त थी, जिन्होंने पूर्वविदेह में जाकर श्री सीमंधर भगवान का वन्दन किया था, और जिनके पास से लिए हुए श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भारतवर्ष के भव्य जीवों को प्रतिबोधित किया है; ऐसे जो श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरणरूप 'कलिकाल सर्वज्ञ' (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) उनके द्वारा रचित इस षट्प्राभृत ग्रंथ में.....सूरीश्वर श्री श्रुतसागर द्वारा रचित मोक्षप्राभृत की टीका समाप्त हुई।"

कुछ इसी प्रकार का आशय चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख में दृष्टिगोचर होता है :–

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द - प्रभा - प्रणयि - कीर्त्ति - विभूषिताशः।
यश्चारु - चारण - कराम्बुज चञ्चरीक–
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठामः।।

कुन्दपुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणों के चारण – ऋद्धिधारी महामुनियों के – सुन्दर हस्तकमलों के भ्रमर थे और जिस पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है; वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं ?

विन्ध्यगिरि शिलालेख में और भी स्पष्ट रूप में कहा है:-

... ...कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तबाह्यऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ।।

यतीश्वर श्री कुन्दकुन्द स्वामी रजःस्थान को - भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में चलते थे, उससे मैं यह समझता हूँ कि वे अन्तरंग तथा बहिरंग रज से अपना अत्यन्त अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे अर्थात् वे अन्तरंग में रागादि मल से और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।

ऐसे महान् संत द्वारा रचित जो समयसार ग्रंथ है उसमें शुद्धनय की दृष्टि से नवतत्त्वों का निरूपण करके जीव का शुद्ध स्वरूप सर्व प्रकार से आगम, युक्ति, अनुभव और परम्परा से विस्तारपूर्वक समझाया है। यह ग्रन्थ अध्यात्म ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट है। इसे जैनियों की गीता कहा जा सकता है। गीता वेदान्त (उपनिषद्) का सार है। उपनिषद् में ज्ञानकाण्ड (अध्यात्म) वर्णित होने के कारण गीता अध्यात्मसार हुई और समयसार भी 'अध्यात्मसार' है।

प्रवचनसार में नामानुसार जिन प्रवचन का सार संगृहीत है। इसे ज्ञानतत्त्व, ज्ञेयतत्त्व और चरणानुयोग के तीन अधिकारों में विभाजित किया गया है।

पंचास्तिकाय संग्रह में कालसहित पाँच अस्तिकायों का अर्थात् छह द्रव्य और नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाएँ उपलब्ध हैं। जिनका वर्णन क्रमशः किया जा रहा है।

आत्मख्याति

आत्मख्याति कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार पर संस्कृत भाषा में लिखी गई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीका है। इसे सामान्यजनों द्वारा 'समयसार टीका' नाम से भी जाना जाता है।

जिस तरह वेदान्तदर्शन के सूत्रों पर वाचस्पति मिश्र ने भामती टीका बनाई उसी प्रकार आचार्य अमृतचंद्र ने समयसार पर आत्मख्याति की रचना की। जिस अध्यात्म का बीज कुन्दकुन्द ने

बोया था उसे अंकुरित, पुष्पित और फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है।

आत्मख्याति में गद्य के अतिरिक्त जो कलश-काव्यों की रचना की है वह बहुत ही भावपूर्ण और प्रेरणाप्रद है। ये काव्य अध्यात्म रस और आत्मानुभव की मस्ती से भरपूर हैं। इन कलशों के द्वारा पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिवर भी प्रभावित हुए हैं और ये कलश आज भी अध्यात्म रसिकों के हृदय के तार को झनझना डालते हैं।

समयसार में मोक्षमार्ग का यथार्थ स्वरूप वर्णित है। अनन्तकाल से परिभ्रमण करते हुए दुःखी जीवों को जो कुछ भी समझने योग्य है वह इस परमागम में समझाया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य इस शास्त्र को प्रारम्भ करते हुए स्वयं कहते हैं :–

कामभोग बन्धन की कथा सबने सुनी है, परिचय किया है, अनुभव किया है, लेकिन पर से भिन्न एकत्व की प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है। उस एकत्व की – पर से भिन्न अभिन्न आत्मा की बात मैं इस शास्त्र में समस्त निज वैभव अर्थात् आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभव से कहूँगा।'

इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यथार्थ आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए इस शास्त्र में आचार्य ने अनेक विषयों का निरूपण किया है।

जीव और पुद्गल के निमित्त-नैमित्तिकपना होने पर भी दोनों का अत्यन्त स्वतन्त्र परिणमन, ज्ञानी को राग-द्वेष का अकर्त्ता-अभोक्तापना, अज्ञानी को राग-द्वेष का कर्त्ताभोक्तापना, सांख्यदर्शन की एकान्तिकता, गुणस्थान आरोहण में भाव का और द्रव्य का निमित्त-नैमित्तिकपना, विकाररूप परिणमन करने में अज्ञानी का स्वयं का ही दोष, मिथ्यात्वादि का जड़पना, पुण्य और पाप दोनों का बंधस्वरूपपना, इत्यादि अनेक विषय इस शास्त्र में प्ररूपित हैं।

निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग का भी विशद चित्रण है जो अद्वितीय है।

आध्यात्मिक संत कानजी स्वामी के शब्दों में यह "समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है; लाखों शास्त्रों का सार इसमें है, जैन शासन का यह स्तम्भ है; साधक की यह कामधेनु है, कल्पवृक्ष

है। चौदह पूर्व का रहस्य इसमें समाया हुआ है। इसकी हर एक गाथा छट्ठे सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है।"

ऐसे अपूर्व ग्रन्थराज के हार्द को सरल, भावमयी, सुमधुर और सुष्पष्ट रूप में 'आत्मख्याति' नाम की टीका में प्रकाशित किया है, विवेचित किया है।

अमृतचन्द्राचार्य ने इस समयसार ग्रंथ की टीका का फल रागादि का अभावपूर्वक शुद्धचिन्मात्रमूर्त्तिस्वरूप आत्मानुभव में शुद्धि की वृद्धि चाहा है।

ये भाव उनके ही शब्दों में समयसार टीका के तीसरे कलश म द्रष्टव्य हैं :–

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा–
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्त्ते–
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥

आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि "शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से तो मैं शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्त्ति हूँ; किन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मैली हो रही है, रागादिरूप हो रही है। इसलिए शुद्धात्मा के कथनरूप इस समयसार ग्रन्थ की टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादि रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो।"

जब फल ऐसा अपूर्व हो तो कार्य भी अपूर्व होगा। कारण के अनुसार कार्य होता है। यदि हम किसी वृक्ष से आम के फल को तोड़ते हैं तो वह निश्चय ही आम का वृक्ष होगा।

इस कलश में ग्रंथ का मुख्य कथन, मूल प्रतिपाद्य भी कह दिया गया है। वह है – 'शुद्धात्मा का कथन'।

आत्मख्याति का मूल प्रतिपाद्य भी समयसार के सूक्ष्म रहस्यों का सुस्पष्ट उद्घाटन करना है।

२७६वें कलश में उल्लिखित–

'उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंताज्ज्वलतु'

तथा २७८वें कलश में कथित–

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै–
व्यर्ख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।।

से स्पष्ट है कि इस टीका के रचयिता अमृतचन्द्रसूरि ही हैं।

तथा अन्त में कथित–'इति श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृता समयसार व्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता।' से सिद्ध है कि इसका नाम आत्मख्याति है।

आत्मख्याति टीका पर हिन्दी भाषा में अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। उन सबमें १७० वर्ष पूर्व जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित टीका सर्वाधिक मान्य एवं लोकप्रिय है।

तत्त्वदीपिका

कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा रचित प्रवचनसार टीका पर आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वदीपिका नाम की टीका लिखी है। सामान्यजन इसे प्रवचनसार टीका भी कहते हैं, पर ग्रन्थ समाप्ति पर उल्लिखित 'समाप्तेयं तत्त्वदीपिका टीका' से ज्ञात होता है कि इसका मूल नाम तत्त्वदीपिका ही है।

इस टीका के अन्तिम अध्याय में २१वें छन्द में आगत –

'व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति'

से स्पष्ट है कि इस टीका की रचना आचार्य अमृतचंद्र ने की थी।

इस ग्रन्थ में सर्वज्ञ वीतराग कथित ज्ञान-ज्ञेय का स्वरूप, द्रव्य, गुण और पर्यायों का स्वरूप तथा मोक्षमार्ग का स्वरूप अत्यन्त परिमार्जित ज्ञान-वैभव के द्वारा बतलाया गया है।

इस प्रकार प्रवचनसार ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय को तीन महा अधिकारों में विभाजित किया गया है – ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोगसूचक चूलिका।

इनमें प्रथम व तृतीय के अन्तर्गत चार-चार अधिकार हैं व द्वितीय में तीन।

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में निम्न चार अधिकार हैं :–

(१) शुद्धोपयोग अधिकार
(२) ज्ञान अधिकार
(३) सुख अधिकार
(४) शुभ परिणाम अधिकार

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में निम्न तीन अधिकार हैं :–

(१) द्रव्य सामान्य अधिकार
(२) द्रव्य विशेष अधिकार
(३) ज्ञानज्ञेय विभाग अधिकार

चरणानुयोगसूचक चूलिका में चार अधिकार हैं :–

(१) आचरण प्रज्ञापन
(२) मोक्षमार्ग प्रज्ञापन
(३) शुभोपयोग प्रज्ञापन
(४) पंचरत्न प्रज्ञापन

प्रवचनसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही शास्त्रकर्त्ता ने वीतराग चारित्र के लिए अपनी तीव्र आकांक्षा व्यक्त की है। इसके पश्चात् परोन्मुखी वृत्ति के कारण दुःखी जीवों को स्वोन्मुख करने के लिए ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा का विवेचन विस्तारपूर्वक ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन में किया है।

अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख ही उपादेय है। इन्द्रिय ज्ञान और इन्द्रिय सुख वाले तो कर्मभार को ही भोगते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान ही एकान्तिक सुख है, परोक्ष ज्ञान तो अत्यन्त व्याकुलतामय है। केवली का अतीन्द्रिय सुख ही सुख है, इन्द्रियजनित सुख तो दुःख ही है; सिद्ध भगवान स्वयमेव ज्ञान, सुख और देव हैं। घातिकर्म रहित भगवान का सुख सुनकर भी जिन्हें उनके प्रति श्रद्धा नहीं होती वे अभव्य हैं – इस प्रकार अनेकानेक प्रकार से अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख के महत्त्व को प्रतिपादित किया है तथा इन्द्रिय ज्ञान व इन्द्रिय सुख की तुच्छता दिखलाते हुए अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख की रुचि तथा श्रद्धा कराई है और अन्तिम गाथाओं में मोह-राग-द्वेष को निर्मूल करने का जिनोक्त यथार्थ उपाय संक्षेप में बताया है।

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में अनादि से परिभ्रमण करते हुए जीव ने अनेकों कार्य किए पर भेद-विज्ञान नहीं किया – यह बताते हुए कहा है कि इस जीव ने अनुभव सहित कभी ऐसी श्रद्धा नहीं की कि बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग में जीव अकेला ही कर्त्ता, कर्म, करण और कर्मफल बनता है, उसका पर के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अतः हजारों मिथ्या उपायों के करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता। दुःख की जड़ को समाप्त करने का साधन एकमात्र भेद-विज्ञान है – यह समझाते हुए कहा है कि जगत का प्रत्येक सत् अर्थात् प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के अतिरिक्त या गुणपर्याय समूह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सत् कहो, द्रव्य कहो, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहो या गुणपर्याय का पिण्ड कहो, यह सब एक ही है। यह त्रिकालज्ञ जिनेन्द्र भगवान के द्वारा साक्षात् दृष्ट वस्तुस्वरूप का मूलभूत सिद्धान्त है। वीतराग विज्ञानमय इस मूलभूत सिद्धान्त को प्रारम्भ की अनेक गाथाओं में अत्यधिक सुन्दर व वैज्ञानिक रीति से समझाया है। द्रव्य-सामान्य का स्वरूप भी अद्भुत शैली में चित्रित है।

द्रव्य-सामान्य के स्वरूप के पश्चात् द्रव्य-विशेष का असाधारण वर्णन, प्राणादि से जीव की भिन्नता, जीव देहादि का कर्त्ता-कारयिता-अनुमोदक नहीं – यह वास्तविकता, जीव को पुद्गल पिण्ड का अकर्तृत्व, निश्चयबंध का स्वरूप, शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल, ध्यान आदि अनेक विषय समझाए गए हैं। यह अधिकार जिनशासन के स्तम्भ समान है। प्रतिपादन शैली प्रौढ़, गहन और मर्मस्पर्शी है।

चरणानुयोग सूचक चूलिका में शुभोपयोगी मुनि को अंतरंग दशा के अनुरूप किस प्रकार का शुभोपयोग वर्तता है और साथ में किस प्रकार की सहज बाह्य क्रियायें होती हैं – समझाया गया है। दीक्षा ग्रहण करने की जिनोक्त विधि, अंतरंग सहज दशा के अनुरूप बहिरंग यथाजातरूपत्व, अट्ठाईस मूलगुण, उत्सर्ग-अपवाद, युक्ताहार-विहार, मुनि का अन्य मुनियों के प्रति व्यवहार, इत्यादि अनेक विषय इसमें सयुक्ति समझाए गए हैं।

ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्य व टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य ने चरणानुयोग जैसे विषय का भी आत्मद्रव्य को मुख्य करके, शुद्धद्रव्यावलम्बी

अंतरंग दशा के साथ उन-उन क्रियाओं का अर्थात् शुभभावों का सम्बन्ध दिखलाते हुए, निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक चमत्कार-पूर्ण वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचरण प्रज्ञापन जैसे अधिकार में भी मानो शांतरसमय अध्यात्मगीत गाया जा रहा है। आत्मद्रव्य को मुख्य करके ऐसा मधुर, सयुक्तिक एवं सप्रमाण आद्यंत शांतरस से ओतप्रोत चरणानुयोग का प्रतिपादन अन्य किसी शास्त्र में नहीं है।

इस प्रकार तीन भागों में विभाजित इस ग्रन्थ में जिनशासन के मुख्य-मुख्य बीज विद्यमान हैं जिनके द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप समझने में सहयोग मिलता है।

श्री कानजी स्वामी तो अनेक बार कहते हैं कि – श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि शास्त्रों की गाथा-गाथा में दिव्य-ध्वनि का संदेश भरा है। इन गाथाओं में इतनी अपार गहराई है कि उसका माप करने में अपनी ही शक्ति का माप हो जाता है। यह सागरवत् गंभीर शास्त्रों के रचयिता परमकृपालु आचार्यदेव का कोई परम अलौकिक सामर्थ्य है। परम अद्‌भुत सातिशय अन्तर्बाह्य योगों के बिना इन शास्त्रों का रचा जाना शक्य नहीं। इन शास्त्रों की वाणी अध्यात्म – सरिता में तैरते हुए पुरुष की वाणी है, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। इनकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव से निकली हुई है।

प्रवचनसार की टीका भव्यजीवों के हितार्थ की गई है ऐसा स्वयं अमृतचन्द्राचार्य तीसरे श्लोक में कहते हैं :–

परमानन्दसुधारसपिपासितानांहिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम्।

परमानन्द सुधारस के पिपासु भव्य जीवों के हितार्थ तत्त्व को प्रगट करने वाली प्रवचनसार की यह टीका रची जा रही है।

⁂

वर्त्तमान युग में युगपुरुष कानजी स्वामी ने अमृतचन्द्र की उक्त टीकाओं पर अनेक बार वर्षों तक लगातार प्रवचन किए हैं। वे प्रवचन छप भी चुके हैं। उन्होंने इन गुरु-गंभीर टीकाओं को आज जन-जन

की वस्तु बना दिया है। आज भी वे उक्त टीकाओं पर प्रतिदिन प्रवचन करते हैं और डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा सम्पादित 'आत्मधर्म' मासिक पत्रिका के माध्यम से प्रतिमास हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और गुजराती चार भाषाओं में १५,००० प्रतियों में प्रकाशित होकर लाखों लोगों तक पहुँच रहे हैं।

समयव्याख्या

पंचास्तिकाय संग्रह नामक ग्रंथ पर रचित आचार्य अमृतचन्द्र की टीका का नाम 'समयव्याख्या' है। यह निम्न पंक्ति से स्पष्ट है :–

'इति पंचास्तिकायसंग्रहाभिधानस्य समयस्य व्याख्या समाप्ता।'

इसके कर्त्ता अमृतचन्द्राचार्य हैं जैसाकि उन्होंने इसके अन्तिम छंद में इस प्रकार कहा है :–

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।।२७८।।

यह श्लोक आत्मख्याति के अंत में भी मिलता है।

पंचास्तिकाय संग्रह के प्रारम्भ में ही ग्रन्थकर्त्ता ने इस शास्त्र को 'सर्वज्ञ महामुनि के मुख से कहे गये पदार्थों का प्रतिपादक, चतुर्गति नाशक तथा निर्वाण का कारण कहा है :–

समणमुहुग्गदमट्ठं चतुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि ।।

इस ग्रंथराज एवं टीका के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में आचार्य अमृतचंद्र ने मंगलाचरण के उपरांत स्वयं तीन छन्दों में सूची प्रस्तुत कर दी है। वे छन्द इस प्रकार हैं :–

पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ।।
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानाम् व्यवस्था प्रतिपादिता ।।
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ।।

यहाँ प्रथम सूत्रकर्त्ता ने मूल पदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षट् द्रव्य के प्रकार से प्ररूपण किया है अर्थात् इस ग्रंथ के प्रथम अधिकार

में विश्व के मूल पदार्थों का पांच अस्तिकाय व छह द्रव्य इन दो दृष्टियों से वर्णन किया है।

इसके पश्चात् द्वितीय अधिकार में जीव और अजीव इन दोनों की पर्यायोंरूप नवपदार्थों की व्यवस्था दर्शायी है। इन दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं।

इसके पश्चात द्वितीय अधिकार के अंत में तत्त्व के परिज्ञान-पूर्वक त्रयात्मक अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मार्ग से कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्ष प्राप्ति कही है।

उक्त सूची में कथित षट् द्रव्य, पंचास्तिकाय, नव पदार्थ एवं रत्नत्रय का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :-

यह विश्व अनादि अनंत स्वयंसिद्ध सत् – ऐसे छह द्रव्यों का समुदाय है। इसकी प्रत्येक वस्तु अनुत्पन्न एवं अविनाशी है। प्रत्येक वस्तु में अनंत गुण हैं जो त्रैकालिक हैं अर्थात् नित्य हैं। नित्य होकर भी परिणमनशील हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नवीन पर्यायें (अवस्थाएँ) धारण करती है, फिर भी एक मर्यादा में रहती है एवं अपने-अपने स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती।

द्रव्यों के भिन्न-भिन्न जातियों की अपेक्षा से छह भेद हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जिसमें सदा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि अनन्त गुण हों वह जीव-द्रव्य है और जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि अनन्त गुण पाये जावें वह पुदगल द्रव्य है।

जो चलते हुए जीव और पुद्गलों के चलने में उदासीनरूप से निमित्त कारण होता है वह धर्म द्रव्य तथा जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गलों के ठहरने में उदासीनरूप से निमित्त कारण होता है वह अधर्म द्रव्य है।

जो सब द्रव्यों के रहने में निमित्त हो वह आकाश द्रव्य है और जो द्रव्य जगत के समस्त पदार्थों के परिणमन में निमित्त हो उसे काल द्रव्य कहते हैं।

इन छहों द्रव्यों में से प्रथम पाँच द्रव्य अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश सत् होने से अस्ति एवं बहुप्रदेशी अर्थात्

शक्ति अथवा व्यक्ति अपेक्षा से विशाल क्षेत्र वाले होने से काय – इस प्रकार अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य 'अस्ति' है किन्तु 'काय' नहीं है। अर्थात् वह एकप्रदेशी द्रव्य है, बहुप्रदेशी नहीं।

जीवद्रव्य – द्रव्यदृष्टि से शुद्ध होने पर भी पर्याय अपेक्षा से शुभाशुभभावरूप में, आंशिक शुद्धिरूप में, शुद्धि की वृद्धिरूप में तथा पूर्ण शुद्धिरूप में परिणमित होता है और उन भावों के निमित्त से शुभाशुभ पुद्गल कर्मों का आश्रव एवं बंधन तथा उनका रुकना, खिरना और सर्वथा छूटना होता है।

इन्हीं भावों को समझाने के लिए नवपदार्थों का वर्णन है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम पंचास्तिकाय और नवपदार्थों का स्वरूप समझाया है। इसके बाद मोक्षमार्गसूचक चूलिका है। इसमें मुख्यतः वीतराग चारित्र का, स्वसमय का, शुद्ध मुनिदशा का, पारमार्थिक मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है। तथा 'मुनि को सराग चारित्र की दशा में आंशिक शुद्धि के साथ-साथ कैसे-कैसे शुभ भावों का सुमेल होता है' – इसका भी स्पष्ट चित्रण है।

इस ग्रंथ के इस अधिकार की विशेषताओं को पंचास्तिकाय संग्रह[1] के उपोद्घात के पृष्ठ १० पर कहा गया है कि यह अन्तिम अधिकार शास्त्ररूपी मन्दिर पर रत्न-कलश की भाँति शोभा देता है। अध्यात्मरसिक आत्मार्थी जीवों का यह अतिप्रिय अधिकार है। इस अधिकार का रसास्वादन करते हुए मानों उन्हें तृप्ति ही नहीं होती।

जिनके हृदय में वीतरागता की भावना का मंथन होता है ऐसे शास्त्रकार और टीकाकार मुनीन्द्रों ने इस अधिकार में मानों शान्त वीतराग रस की सरिता प्रवाहित की है। धीरगंभीर गति से बहती हुई उस शांतरस की अध्यात्म गंगा में स्नान करने से तत्त्वजिज्ञासु भावुक जीव शीतलताभिभूत होते हैं।

तत्त्वार्थसार

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में समान रूप से माने जाने वाले तत्त्वार्थसूत्र को पल्लवित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने 'तत्त्वार्थसार' नामक ग्रन्थ की रचना की हैं। अनेक स्थलों पर

---

[1] प्रकाशक : श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर

तत्त्वार्थसूत्र की लीक से हटकर नवीन विषयवस्तु भी इसमें प्रस्तुत की गई है, उसमें आचार्य अकलंकदेव के तत्त्वार्थराजवार्त्तिक का सर्वाधिक आश्रय लिया है।

इसमें अधिकारों का वर्गीकरण तत्त्वार्थसूत्रके आधार पर न कर स्वतंत्र रूप से मौलिक किया गया है। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र में आस्रव के लिए दो अध्याय दिये गये हैं व संवर, निर्जरा इन दो तत्त्वों को एक अध्याय में समेट लिया गया है वहाँ इसके विपरीत अमृतचन्द्राचार्य ने आस्रव को एक अधिकार में लेकर संवर व निर्जरा को पृथक्-पृथक् अधिकार में विवेचित किया है। तत्त्वार्थसूत्र के समान इसमें दस अध्याय न रखकर नौ अधिकार रखे गए हैं। जिनमें पहला अधिकार सात तत्त्वों की पीठिकारूप है और अन्तिम अधिकार उपसंहाररूप है। मध्य के सात अधिकारों में क्रमशः सात तत्त्वों का बहुत ही सुन्दर, सुगम, सुस्पष्ट विवेचन किया गया है। गुणस्थान, मार्गणास्थान के जिस प्रकरण को दुरुह समझकर उमास्वामी ने छोड़ दिया था उसका विस्तृत वर्णन अमृतचन्द्राचार्य द्वारा तत्त्वार्थसार में किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र जहाँ सूत्रों के रूप में गद्य शैली में निबद्ध है, वहाँ ही तत्त्वार्थसार पद्य में।

तत्त्वार्थसार की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है :–

प्रथम अधिकार में युक्ति और आगम से सुनिश्चित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप प्रतिपादित किया है तथा इस ग्रंथ को मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला एक दीपक बतलाते हुए वे कहते हैं :–

अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैक दीपकः।
मुमुक्षुणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥

अब मोक्षाभिलाषी जीवों के हित के लिए मोक्षमार्ग को दिखलाने के हेतु प्रमुख दीपकस्वरूप यह तत्त्वार्थसार नाम का ग्रन्थ अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा जाता है।

इस प्रकार इस श्लोक द्वारा ग्रंथ का नाम व ग्रन्थ रचना का उद्देश्य भी ज्ञात हो जाता है।

तदनन्तर सम्यग्दर्शनादि का स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने उसके विषयभूत जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का विशद वर्णन किया है। इन सात तत्त्वों में जीव तत्त्व उपादेय है और अजीव तत्त्व हेय है। अजीव का जीव के साथ संबंध क्यों होता है, इसका कारण बतलाने के लिए आस्रव का और अजीव का संबंध होने से जीव की क्या दशा होती है – यह बतलाने के लिए बन्ध तत्त्व का कथन किया गया है। अजीव तत्त्व का संबंध जीव से कैसे छूटे – यह बतलाने के लिए संवर व निर्जरा का विवेचन है तथा अजीव के संबंध छूटने पर जीव की क्या दशा होती है – यह बतलाने के लिए मोक्ष तत्त्व का वर्णन किया गया है।

इन्हीं सात तत्त्वों के जानने के लिए उन्होंने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप तथा प्रमाण और नयों का विस्तार से वर्णन किया है। प्रमाण के वर्णन में मतिज्ञान आदि पाँच सम्यग्ज्ञानों का विस्तार के साथ निरूपण किया है।

प्रथम अधिकार के अन्त में निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान तथा सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगों का भी उल्लेख किया गया है।

द्वितीय अधिकार में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पांच स्वतत्त्वों का वर्णन तथा जीव का लक्षण बताने के लिए उपयोग का वर्णन किया है। उपयोग के साकार-अनाकार के भेद से दो भेद बतलाते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का वर्णन किया है। पश्चात् जीव के संसारी और मुक्त के भेद से दो भेद बताकर संसारी जीवों का वर्णन गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं के द्वारा किया है। संसारी जीवों का वर्णन करते हुए चौरासी लाख योनियों, उनके स्वामियों तथा कुलकोटियों का विशद वर्णन किया है। जीव को आयु तथा शरीरावगाहना का वर्णन कर कौन जीव किस नरक तक जाते हैं और वहाँ से आकर क्या-क्या होते हैं आदि का वर्णन किया है।

इस प्रकार जीव तत्त्व का वर्णन करने के पश्चात् उनका निवास बतलाने के लिए अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक का भी वर्णन किया है।

इस प्रकार तत्त्वार्थसार के द्वितीय अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ इन तीनों अध्यायों को सम्मिलित कर लिया गया है।

तृतीयाधिकार में अजीव तत्त्व का वर्णन करते हुए प्रसंगोपात्त छह द्रव्यों का स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य, पुद्गलों के भेद, अणु और स्कन्ध का स्वरूप, पुद्गल द्रव्य की पर्यायें तथा स्कन्ध बनने की प्रक्रिया का वर्णन है। इस प्रकार इसमें तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय का विषय विवेचित है। इसमें पूज्यपाद स्वामी की सर्वार्थसिद्धि टीका का भी आश्रय लिया गया है।

चतुर्थ अधिकार में आस्रव तत्त्व का वर्णन है। इसके लिए तत्त्वार्थसूत्र के षष्ठम् व सप्तम अध्याय को आधार बनाया गया है। साथ में तत्त्वार्थराजवार्तिक का भी उपयोग किया है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। इसमें शुभाशुभ भावों व व्रतों का वर्णन किया गया है।

पंचमाधिकार में बन्ध तत्त्व का विस्तार से वर्णन है और इसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का अष्टम अध्याय है। इसमें कर्मों की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों के नाम, लक्षण तथा उनकी स्थिति आदि का अच्छा दिग्दर्शन हुआ है।

षष्ठाधिकार में संवर तत्त्व का वर्णन है। इसमें तत्त्वार्थसूत्र के नवम् अध्याय के प्रारम्भिक भाग को आधार बनाया गया है। इसमें संवर का स्वरूप तथा उसके कारणभूत गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र का वर्णन किया गया है।

सप्तमाधिकार में निर्जरा का वर्णन किया गया है। जिसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का नवम् अध्याय का उत्तरार्द्ध है। इसमें निर्जरा के भेद तथा निर्जरा के कारणभूत तपों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अष्टमाधिकार में मोक्ष का वर्णन है। तत्त्वार्थसूत्र का दसवाँ अध्याय इसका आधार है। इसमें मोक्ष का लक्षण तथा उसकी प्राप्ति के क्रम का बहुत सुन्दर वर्णन है। इस प्रकरण में अमृतचन्द्राचार्य ने राजवार्त्तिक के अनेकों वार्त्तिकों को श्लोकों का रूप दिया है। जैसे–

'आद्यभावादन्ताभाव इति चेत्, न दृष्टत्वादन्त्य बीजवत् ।'

तत्त्वार्थराजवार्त्तिक पृष्ठ ६४१ का यह वार्त्तिक तत्त्वार्थसार में निम्नरूप में मिलता है :–

आद्यभावान्न भावस्य कर्मबन्धन सन्ततेः ।
अन्ताभावः प्रसज्येत दृष्टत्वादन्त्य बीजवत् ।।

नवमधिकार में ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निर्देश आदि के द्वारा सात तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए।

निश्चय और व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन। अपने शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षण – राग-द्वेष से रहित प्रवर्त्तन है वह निश्चय मोक्षमार्ग है और पर-आत्माओं का जो श्रद्धान आदि है वह व्यवहार मोक्षमार्ग है। मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण निश्चय मोक्षमार्ग है। व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक होने से परम्परा से मोक्षमार्ग कहा जाता है। व्यवहार मोक्षमार्ग 'व्यवहार' नाम तभी प्राप्त करता है जब कि निश्चय मोक्षमार्ग हो। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्षमार्गों को अपनाता है।

इस प्रकार मोक्षमार्ग का सांगोपांग वर्णन करने वाला होने से इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। अतएव ग्रन्थान्त में कहा गया है :–

'इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरीणां कृतिः तत्त्वार्थसारो नाम मोक्षशास्त्रं समाप्तं'।

यद्यपि इस ग्रंथ में कहीं भी अमृतचन्द्राचार्य ने अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है, अन्तिम श्लोक में नाम न लिख 'वयम्' से ही काम चलाया है; तथापि टीकाकार के निम्न उल्लेख द्वारा इस ग्रंथ के रचयिता अमृतचन्द्राचार्य ही सिद्ध होते हैं :–

अमृतेन्दुर्महासूरिर्नानानयविशारदः ।
ग्रन्थं तत्त्वार्थसारं यं रचयामास सत्कृपः ।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित अत्यन्त लोकप्रिय यह आध्यात्मिक ग्रंथ उपलब्ध समस्त श्रावकाचारों में निराला और अद्वितीय है।

इस ग्रंथ का अपर नाम 'जिनप्रवचन रहस्य कोष'[१] भी उपलब्ध होता है, लेकिन प्रचलित नाम पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ही है। यही ग्रंथकार को अभीष्ट है। लेखक ने स्वयं ही ग्रन्थ की उत्थानिका में ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा करते हुए ग्रन्थ का नाम 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' दिया है :–

'अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम् ।।३।।'

यह ग्रन्थ आद्यन्त अपने वर्णन में वैशिष्ट्य लिये हुए है। इसके आदि में निश्चय–व्यवहारनय की चर्चा है तथा अंत में रत्नत्रय को मोक्ष का उपाय वर्णित किया गया है। ये दोनों ही वर्णन अन्य श्रावकाचारों की दृष्टि से अछूते हैं।

अमृतचन्द्राचार्य की यह मौलिक कृति समस्त जैन परीक्षाबोर्डों के पाठ्यक्रम में निर्धारित है और नियमित चलने वाले सभी जैन विद्यालयों में पढ़ाई जाती है।

इस ग्रंथ पर आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने सरल, सुबोध भाषा में भाषाटीका लिखी है जो कि उनके असमय में कालकवलित हो जाने से पूर्ण नहीं हो सकी। इस अपूर्ण टीका को पूर्ण करने वाले पंडित दौलतरामजी कासलीवाल ने लिखा है :–

'भाषाटीका ता उपरि कीनी टोडरमल्ल।'[२]

इस टीका के पूर्व की कोई और टीका उपलब्ध नहीं है और न ही ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त है कि इसके पूर्व कोई टीका बनी थी। पंडित टोडरमलजी कृत टीका प्रकाशित हो चुकी है।[३] इस टीका का अनुवाद भी खड़ी बोली में श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है।

---

[१] इति श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपर नाम जिनप्रवचनरहस्य-कोष ग्रन्थ सम्पूर्णम्।

[२] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पृष्ठ १९६
प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

[३] प्रकाशक : मुंशी मोतीलाल शाह, जयपुर

इसके अतिरिक्त परवर्त्ती विद्वानों की अनेक टीकाएँ उपलब्ध होती हैं। जिनमें भूधरमिश्र,[१] नाथूराम प्रेमी,[२] बाबू सूरजभान वकील,[३] पंडित मक्खनलालजी शास्त्री,[४] तथा उग्रसेन जैन[५] की टीकाएँ प्रमुख हैं।

इस ग्रंथ के नाम में ही ग्रंथ के विषय का दिग्दर्शन होता है। पुरुष अर्थात् 'आत्मा', अर्थ अर्थात् उस पुरुष का 'प्रयोजन'। आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि का उपाय जिसमें वर्णित है ऐसा यह पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ है।

प्रस्तुत कृति में वीतराग-सर्वज्ञ कथित[६], वस्तुस्वभाव दर्शक जैनधर्म का माहात्म्य, अहिंसादि व्रतों का स्वरूप, गृहस्थोचित नीतिमय व्यवहार धर्म अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सुगम शैली द्वारा वर्णित है।

इस कृति में अध्यायों का विभाग नहीं है। कुल पद्य २२६ हैं। इन सभी पद्यों को वर्ण्य-विषय की दृष्टि से निम्नानुसार विभाजित किया जा सकता है :–

(क) मंगलाचरण एवं उत्थानिका

(ख) मूल विषयवस्तु

(i) सम्यग्दर्शन

(ii) सम्यग्ज्ञान

(iii) सम्यक्चारित्र

(iv) सल्लेखना

(v) अतिचार

(vi) सकलचारित्र

---

१ वि० संवत् १८७१ में शाहगंज, आगरा में लिखित

२ प्रकाशक : श्रीमद् राजचन्द्र शास्त्रमाला, अगास

३ प्रकाशक : बाबू सूरजभान वकील

४ प्रकाशक : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

५ प्रकाशक : सब-कमेटी, दि० जैन मन्दिर सराय मोहल्ला, रोहतक

६ 'वस्तुजातमखिलज्ञैः', श्लोक २३

मंगलाचरण एवं उत्थानिका

इस ग्रन्थ में 'जैन दर्शन में व्यक्ति नहीं, गुण पूज्य हैं' इस कथन को दृष्टि में रखते हुए मंगलाचरण में 'शुद्धचेतनारूप प्रकाश रूपपरंज्योति'[१] व 'अनेकान्त'[२] को नमस्कार किया गया है।

तदनन्तर तीसरे श्लोक से १९वें श्लोक तक ग्रन्थ की उत्थानिका में वक्ता व श्रोता का लक्षण, ग्रंथ का नाम, ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा, ग्रंथ के नाम में प्रयुक्त शब्दावलियों की व्याख्या और उपदेश देने के क्रम का वर्णन किया है।

क्रमभंग करना उनकी दृष्टि में असहनीय अपराध है, अतः क्रमभंग करने वाले को वे दण्ड का पात्र मानते हैं। क्रमभंग करने वाले उपदेशक को वे तुच्छबुद्धि[३] और दुर्बुद्धि[४] विशेषणों से सम्बोधित करते हैं।

मूल विषयवस्तु

इसके पश्चात् बीसवें श्लोक से एकसौ छयानवें श्लोक तक श्रावक धर्म का विस्तार से विवेचन किया गया है।

चूँकि सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान मुनि व श्रावक दोनों के ही समान रूप से पाये जाते हैं, अतः श्रावक धर्म के विवेचन के प्रकरण में इनका भी विवेचन किया जाता है और चारित्र का वर्णन तो इसका मुख्य विषय है ही।

सम्यग्दर्शन – इस अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप एवं उसके आठ अंगों का वर्णन है।

सम्यग्ज्ञान – इस अधिकार में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप बताते हुए सम्यग्ज्ञान सम्बन्धी कारण-कार्यविधान एवं सम्यग्ज्ञान के अंगों पर विचार किया गया है।

---

[१] तज्जयति परं ज्योतिः सम समस्तैरोनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

[२] परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

[३] यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ॥१८॥

[४] अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमयि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

सम्यक्चारित्र – इस अधिकार में देशचारित्र का विस्तृत वर्णन है। अहिंसाणुव्रत के संदर्भ में अहिंसा का बहुत सूक्ष्म गंभीर और विस्तृत विवेचन किया गया है। अहिंसा और हिंसा संबंधी वर्णन में उन्हें अनेक पक्षों से देखा गया है और उनके संबंध में उठने वाले विविध पक्षों और प्रश्नों का तर्कसंगत समाधान प्रस्तुत किया गया है। अहिंसा की परिभाषा भी अंतरंग पक्ष को लेकर की गई है एवं असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह को हिंसा के रूप में सिद्ध किया गया है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को अहिंसा के रूपान्तर के रूप में देखा गया है। अहिंसा के स्वरूप पर विचार करते हुए रात्रि भोजन, अनछना पानी काम में लेने आदि हिंसामूलक क्रियाओं के त्याग पर तर्कसंगत प्रकाश डाला गया है। इस अधिकार की रूपरेखा निम्न-लिखित चार्ट द्वारा समझी जा सकती है :–

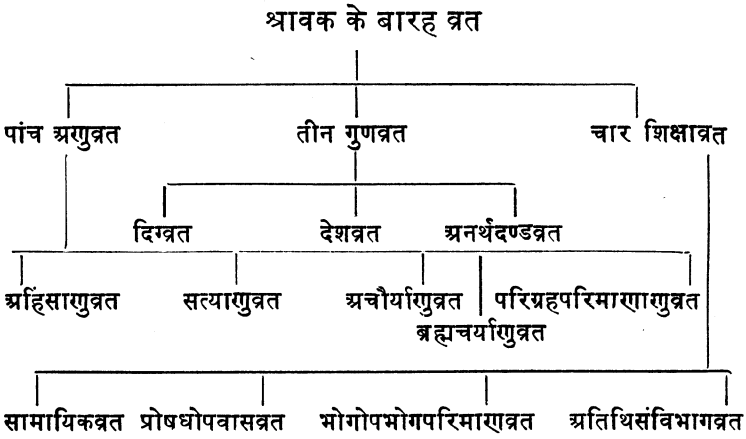

सल्लेखना – इस अधिकार में समाधिमरण का वर्णन है। सल्लेखना समाधिमरण को कहते हैं। जब कोई व्रती जीव अपना मरण समय निकट जान लेता है तब वह शान्ति से आत्मध्यानपूर्वक बिना आकुलता के मरण स्वीकार कर लेता है, यही समाधिमरण है। इस अधिकार में समाधिमरण की विधि विस्तार से बताई गई है, जिसमें कषायों की शांति पर विशेष बल दिया गया है।

कुछ लोग सल्लेखना को आत्मघात के रूप में देखते हैं। पर सल्लेखना आत्मघात नहीं, यह इसमें स्पष्ट किया गया है। साथ में

सल्लेखना व आत्मघात का भेद भी स्पष्ट किया गया है तथा सल्लेखना की आवश्यकता और उपयोगिता पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

अतिचार—इस अधिकार में सम्यग्दर्शन, श्रावक के बारह व्रतों एवं सल्लेखना के अतिचारों का वर्णन है। प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार बतलाए गये हैं। इस प्रकार कुल ७० अतिचारों का वर्णन है।

सकलचारित्र – इस अधिकार में मुनिधर्म के स्वरूप का वर्णन है। इसमें मुनियों के षट् आवश्यक, बारह तप, तीन गुप्ति, पाँच समिति, दश धर्म, बारह भावनाओं एवं बाईस परिषहों का नाम मात्र वर्णन है। 'रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है' और 'रत्नत्रय मुक्ति का ही मार्ग है' – इस तथ्य को भी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है।

अन्त में प्रशस्तिपूर्वक ग्रन्थ समाप्त हुआ है।

परमाध्यात्मतरंगिणी

समयसार की टीका आत्मख्याति यद्यपि गद्य में लिखी गई है तथापि उसमें बीच-बीच में अनेक मार्मिक छन्द भी आए हैं, जिनकी संख्या २७८ है। ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि ये आत्मख्याति के ही अंश हैं तथापि उनका स्वतन्त्र संकलन भी हुआ है, जो 'परमाध्यात्म-तरंगिणी' नाम से जाना जाता है।

उक्त छन्दों को कलश भी कहा जाता है, अतः इसे 'समयसार कलश' भी कहते हैं।

इस पर स्वतंत्र रूप से संस्कृत व हिन्दी में टीकाएँ भी लिखी गई हैं, जिनमें शुभचन्द्रजी की संस्कृत टीका एवं पाण्डे राजमलजी की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

परमाध्यात्मतरंगिणी की प्रस्तावना में कहा गया है :—

"जिस प्रकार विशाल मन्दिर की बिना कलशों के शोभा नहीं होती; उसी प्रकार समयसार व आत्मख्याति की शोभा भी इन कलशों के बिना नहीं हो सकती। अतः इसका नाम समयसार कलश उपयुक्त ही है। तथा समयसार को पढ़ लेने पर भी जब तक इन कलशों को नहीं पढ़ा तब तक पूर्णरूप से आत्मा आत्मिक अनुपम आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता। अतः 'परमाध्यात्मतरंगिणी' यह नाम भी सार्थक है।"

लघु तत्त्वस्फोट

यह नवीनतम उपलब्ध कृति अभी तक अप्रकाशित है। इसके वर्ण्य-विषय, भाषा-शैली एवं उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि यह कृति अमृतचन्द्राचार्य की ही है।

शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली इस कृति में २५–२५ छन्दों के २५ अध्याय हैं – इस प्रकार कुल ६२५ छन्द हैं।

इसमें आचार्य समन्तभद्र की शैली में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से जिनागम में वर्णित मूल दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

⊠

इस प्रकार उनके समग्र साहित्य का अनुशीलन करने के उपरान्त हम देखते हैं कि उन्होंने तत्त्व-प्रेमी समाज को उच्चकोटि का आध्यात्मिक साहित्य विपुलमात्रा में दिया है जिसमें उनकी मौलिक कृतियां और टीकाग्रंथ दोनों शामिल हैं। टीकाग्रंथ गद्य में एवं मौलिक कृतियाँ पद्य में हैं। सभी साहित्य परिमार्जित और प्रांजल संस्कृत भाषा में लिखा गया है। ●

तृतीय अध्याय

वर्ण्य-विषय

जैनागम चार भागों में विभक्त है, जिन्हें चार अनुयोग[1] कहते हैं :–

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग
(३) द्रव्यानुयोग (४) चरणानुयोग

जिन ग्रंथों में महापुरुषों के चरित्रों द्वारा पुण्य-पाप के फल का वर्णन होता है और अंत में वीतरागता को हितकर बताया जाता है, उन्हें प्रथमानुयोग के ग्रन्थ कहते हैं।[2] जिन ग्रन्थों में गुणस्थान मार्गणास्थानरूप जीव का वर्णन तथा कर्मों और तीनों लोकों का भूगोल सम्बन्धी वर्णन होता है उन्हें करणानुयोग के ग्रंथ कहते हैं। इनमें गणित की मुख्यता रहती है।[3]

जिन ग्रंथों में षट् द्रव्य, सप्त तत्त्व आदि का तथा स्वपर भेद-विज्ञान आदि का वर्णन होता है उन्हें द्रव्यानुयोग के ग्रंथ कहते हैं। इनमें न्यायशास्त्र की पद्धति मुख्य होती है।[4] चरणानुयोग में गृहस्थ और मुनियों के आचरण नियमों का वर्णन होता है। इसमें सुभाषित और नीति-शास्त्रों की पद्धति मुख्य है। इस अनुयोग का मुख्य उद्देश्य जीव को अनेक युक्तियों द्वारा पाप प्रवृत्ति से छुड़ाकर धर्म में प्रवृत्त कराना है।[5]

---

[1] शास्त्रों के प्रस्तुतिकरण करने की शैली को अनुयोग कहते हैं।

[2] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६८

[3] वही, २६९

[4] वही, २७१

[5] वही, २७०

प्रस्तुत ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्धयुपाय चरणानुयोग के अंतर्गत आता है। अतः चरणानुयोग के उपरोक्त स्वरूप के अनुसार इसमें भी गृहस्थ अर्थात् श्रावक और मुनिधर्म का वर्णन है, लेकिन यह ग्रन्थ मुख्यतया श्रावक-धर्माचरण की दृष्टि से ही निबद्ध किया गया है। अतः इसे चरणानुयोग की शैली में उपनिबद्ध श्रावकाचार[1] ग्रन्थ कहते हैं।

इसमें विवेचित मुख्य विषय निम्न हैं :–

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन में 'दर्शन' शब्द श्रद्धान के अर्थ में प्रयुक्त है और 'सम्यक्' पद विपरीताभिनिवेश (उल्टा अभिप्राय) के निषेध के लिए दिया गया है। अतः विपरीत अभिनिवेश रहित जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[2]

जैन शास्त्रों में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं।[3] सामान्यरूप से जीव और अजीव दो ही तत्त्व हैं। आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं।[4]

इस परिभाषा के अतिरिक्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा अन्य जिनागमों में विभिन्न स्थानों में निम्न परिभाषाएँ मिलती हैं :–

(१) आत्मश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[5]

---

[1] अमृतचन्द्र मुनीन्द्रकृत ग्रन्थ श्रावकाचार।
अध्यात्मरूपी महा आर्याछन्द जु सार॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, भाषाटीका प्रशस्ति

[2] जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २२

[3] जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्। तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ४

[4] द्रव्यसंग्रह, गाथा २८-२९

[5] (क) 'दर्शनमात्मविनिश्चिति' – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६
(ख) अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २०

(२) सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।[1]
(३) स्वपर-भेदविज्ञान ही सम्यग्दर्शन है।[2]

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं में विभिन्नता प्रतीत होती है, तथापि उनमें एकरूपता है, सामंजस्य विद्यमान है, कोई विरोध नहीं। इसे डॉ० हुकमचंद भारिल्ल ने सयुक्तिक प्रतिपादित किया है।[3]

सम्यग्दर्शन के आठ अंग होते हैं :-

(१) निःशंकित	(२) निःकांक्षित
(३) निर्विचिकित्सा	(४) अमूढ़दृष्टि
(५) उपगूहन या उपबृंहण	(६) स्थितिकरण
(७) वात्सल्य	(८) प्रभावना

प्रस्तुत कृति में प्रत्येक का वर्णन एक-एक श्लोक में किया गया है, जो निम्नानुसार है :-

सर्वज्ञ प्रणीत धर्म में शंका न करना निःशंकित अंग है। इस लोक और परलोक के बारे में किसी प्रकार की चाह न करना निःकांक्षित अंग है। भूख-प्यास, मल-मूत्र आदि में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है। लोक, शास्त्र, धर्म आदि में मूढ़ता रहित श्रद्धान ही अमूढ़दृष्टि अंग है। आत्मधर्म की वृद्धि व परदोषों का गूहन ही उपगूहन अंग है। विकारी भावों के द्वारा स्वात्मा से विचलित स्व-पर को स्वात्मा में स्थिर करना स्थितिकरण अंग है।

साधर्मी बन्धुओं एवं धर्म आदि में सहज प्रेम होना वात्सल्य अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपनी व दान, तप, जिनपूजा आदि द्वारा जिनधर्म का प्रसार-प्रचार करना प्रभावना अंग है।

जिनागम में सम्यग्दर्शन की बहुत महिमा गाई गई है, क्योंकि मुक्ति के मार्ग में सम्यग्दर्शन का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह

---

[1] श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढ़ापोढ़मष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ – रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४
[2] मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २२५
[3] तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १००

मुक्ति-महल की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र का सम्यक् होना सम्भव नहीं।[१]

जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सम्भव नहीं है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम (मोक्ष) होना संभव नहीं है।[२] सम्यग्दर्शन से जो भ्रष्ट है वह भ्रष्ट ही है, उसको मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं।[३] सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। कहा भी है – 'दंसण मूलो धम्मो'[४]

सम्यग्ज्ञान

ज्ञान आत्मा का गुण है। जानना उसकी पर्याय अर्थात् कार्य है। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादर्शन से युक्त ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं। ज्ञान का सम्यक् और मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

मुक्ति के मार्ग में अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी सत्य या असत्य कैसी ही क्यों न हो – आत्मानुभूति सहित व्यक्ति का समस्त

---

१ मोक्षमहल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
– छहढ़ाला, तृतीय ढाल, छन्द १७

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१

२ विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे वीजाभावे तरोरिव॥
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ३२

३ दंसण भट्टा भट्टा दंसणभटस्स णत्थि णिव्वाणं।
– अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा ३

४ कुंदकुंदाचार्य, अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २

ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी चाहे सत्य ही क्यों न हो, यदि उसे आत्मानुभूति प्रगट नहीं हुई है तो उसका समस्त ज्ञान मिथ्याज्ञान ही कहा जाएगा। सम्यग्ज्ञान में 'सम्यक्' पद सम्यग्दर्शन की उपस्थिति का सूचक है और 'मिथ्या' शब्द मिथ्यादर्शन की।[१]

जीवादि सप्तपदार्थों का संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[२]

परस्पर विरुद्ध अनेक कोटि के स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे – यह सीप है या चाँदी ?

विपरीत एक कोटि के निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे – सीप को चाँदी समझ लेना।

'यह क्या है ?' या 'कुछ है ?' केवल इतना अरुचि और अनिर्णयपूर्वक जानने को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे – आत्मा कुछ होगा।[३]

विभिन्न प्रकरणों में विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न ग्रन्थों में सम्यग्ज्ञान की निम्न परिभाषायें भी उपलब्ध होती हैं :–

(१) जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ अवस्थित हैं, उस-उस प्रकार से उनका जानना, सम्यग्ज्ञान है।[४]

(२) जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता रहित, अधिकता रहित, विपरीतता रहित, जैसा का तैसा संदेह रहित जानता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं।[५]

---

[१] सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र ३१-३२ की टीका

[२] संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्।
– पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३५

[३] न्यायदीपिका, पृष्ठ २

[४] सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र १

[५] अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः। –रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४२

(३) आत्मा और अनात्मा का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।[1]

(४) आत्मस्वरूप का जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[2]

इस सब का संक्षिप्तीकरण करते हुए डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल ने लिखा है कि सम्यग्ज्ञान एक प्रकार से सच्चा तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान ही है। सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि निज आत्मतत्त्व का।[3]

आत्मज्ञान से रहित आगमज्ञान, लौकिकज्ञान एवं संयम निरर्थक है। जो ज्ञानस्वभावी आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता है, वह आगम का पाठ करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता है। यही कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ४६४ में कहा है :–

जो णवि जाणदि अप्पं, णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं, आगमपाढं कुणंतो वि॥

अष्टपाहुड़ में 'आत्मस्वभाव से विपरीत बहुत प्रकार के शास्त्रों का पढ़ना और बहुत प्रकार के चारित्र के पालन को बालश्रुत व बालचरित वर्णित करते हुए कहा है :–

जदि पढ़दि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं य चारित्तं।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं॥[4]

आत्मध्यान में रति होना विद्वत्ता का उत्कृष्ट फल है और आत्मा के प्रति प्रेम के बिना अनेक शास्त्रों का पढ़ लेना संसार है। यही भाव प्रदर्शित करते हुए योगसार में कहा है :–

आत्मध्यान रतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्रज्ञातृत्वं संसारोऽभाषिधीधनैः॥

---

[1] संसयविमोहविब्भमविवज्जियं अप्पपरसरूवस्स।
गहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु॥ –द्रव्यसंग्रह, गाथा ४२

[2] (क) आपरूप को जानपनौ, सो सम्यग्ज्ञान कला है।
– छहढ़ाला, तीसरी ढ़ाल, छन्द २

(ख) आत्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः। – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१६

[3] तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १३८

[4] अष्टपाहुड़ (मोक्षपाहुड़), गाथा १००

अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए आत्मा का जानना, अनुभवना आवश्यक है; बाकी सर्व परपदार्थ तो ज्ञान का सहज ज्ञेय बन जाते हैं।[1]

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग हैं[2] :–

(१) व्यंजनाचार (२) अर्थाचार (३) उभयाचार

(४) कालाचार (५) विनयाचार (६) उपधानाचार

(७) बहुमानाचार (८) अनिह्नवाचार

इस ग्रन्थ में इनके नाममात्र ही दर्शाए गए हैं।

सम्यक्चारित्र

आत्मस्वरूप में समा जाना ही सम्यक्चारित्र है। इस चारित्र का वर्णन प्रस्तुत कृति में बहुत विस्तार से किया गया है। मुख्यरूप से इसमें देशचारित्र का वर्णन है, क्योंकि यही इस कृति का मूल कथ्य है।

सम्यक्चारित्र का मुक्तिमार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसके बिना जीव संसार में भटक रहा है तथा जन्ममरण का दुःख उठा रहा है। इस चारित्र को धारण कर जीव शीघ्र ही अपने पुरुषार्थ की सिद्धि कर लेता है।

यही प्रदर्शित करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक १९६ में कहा गया है :–

'सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्'

मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और यही चारित्र है।[3] ऐसा चारित्र साक्षात धर्म है।

---

[1] योगसार ७।४३

[2] ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३६

[3] चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
– प्रवचनसार, गाथा ७

उक्त चारित्र की प्राप्ति आत्मस्वरूप में लीनता, स्थिरता और रमणता से होती है।[१] वस्तुतः आत्मस्वरूप में रमणता ही चारित्र है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में चारित्र के स्वरूप को दर्शाते हुए यह बताया है कि चारित्र बंध का कारण नहीं है :-

'स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः' ।।२१६।।

क्योंकि जो मोक्ष का कारण है वह बंध का कारण कैसे हो सकता है ? यह चारित्र तो मोक्ष का हेतु है। यही समीक्ष्य ग्रन्थ में सिद्ध किया गया है :-

'सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः' ।।२२२।।

वस्तु का स्वभाव होने से यह चारित्र ही धर्म है।[२] समता, माध्यस्थता, शुद्धोपयोग, वीतरागता, चारित्र, धर्म और स्वभाव की आराधना – ये सब एकार्थवाची हैं।[३]

अशुभभाव से निवृत्त होकर शुभभाव में प्रवृत्ति को भी व्यवहार से चारित्र कहा गया है।[४] जैन दर्शन में बाह्याचार की अपेक्षा भावशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है। भावशुद्धि बिना बाह्याचार निष्फल है।[५]

विषय कषाय की वासना का अभाव ही सच्चा चारित्र है। इसी तथ्य को दृष्टिकोण में रखते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने प्रस्तुत कृति में समस्त कषायों से रहित समस्त पापयुक्त मन, वचन, काय के योग के त्याग को चारित्र कहा है :-

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ।।३९।।

---

१ आप रूप में लीन रहे थिर, सम्यक्चारित सोई ।
छहढाला, तीसरी ढ़ाल, छन्द २

२ स्वरूपे चरणं चारित्रं.....तदेव वस्तुस्वभात्वाद्धर्मः
– प्रवचनसार, गाथा ७ की टीका

३ (क) नयचक्र, गाथा ३५७
(ख) जैनधर्मसार, पृष्ठ ५२

४ द्रव्यसंग्रह, गाथा ४५

५ (क) मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २३०
(ख) तस्मात्क्रिया प्रतिफलंति न भावशून्याः – आ० समन्तभद्र

चारित्र के पूर्व सम्यक्पद का प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए है। इसे समीक्ष्य ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है :–

नहिं सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।। ३८ ।।

अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं कहा जाता। अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् ही चारित्र की आराधना करने को कहा है। यही भाव सर्वार्थसिद्धि में भी उपलब्ध होता है–'अज्ञानपूर्वकाचरणनिर्वृत्यर्थं सम्यगविशेषणम्'।[1]

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी (फलदायी) नहीं होता है। अतः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है:–

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ।।२१।।

सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक होते हैं।

'सम्मत्तं विणा सण्णाणं सच्चारित्तं ण होइणियमेण।'[2]

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्र नियमपूर्वक नहीं होते हैं।

कुछ इसी तरह के भाव छहढाला[3] व महापुराण में प्रगट किए गये हैं।[4]

अतः अज्ञानान्धकार समाप्त हो जाने पर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त साधु पुरुष राग-द्वेष (कषायभाव) रूप हिंसादि की निवृत्ति के लिए चारित्र धारण करते हैं। क्योंकि राग-द्वेषरूप भावहिंसादि की निवृत्ति हो जाने पर द्रव्यहिंसा की निवृत्ति सहज हो जाती है।

---

[1] सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र १

[2] रयणसार, गाथा ४७

[3] सम्यग्ज्ञानी होय बहुरि दृढ़ चारित लीजे।

[4] चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मतम्।
प्रमातायैव तद्धि स्यात् अन्धस्येव विवल्गितम् ।।
– महापुराण, सर्ग २४, श्लोक १२२

जैसे अर्थ की अपेक्षा से रहित पुरुष राजादिक की सेवा नहीं करता वैसे ही विरक्त पुरुष पापों में प्रवृत्त नहीं होता ।[1]

हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील, परिग्रह – इन पाँचों पापों से विरक्ति को व्रत कहते हैं ।[2] पापों से विरक्ति ही चारित्र है ।[3]

उक्त पाँचों पापों से पूर्णतः विरक्ति का नाम सकलचारित्र और अंशतः विरक्ति का नाम देशचारित्र है । इस प्रकार चारित्र के दो भेद आलोच्य ग्रन्थ में निम्न श्लोक में कहे गए हैं :–

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ।।४०।।

'सकलचारित्र मुनियों के होता है व देशचारित्र श्रावकों के' इसे स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है :–

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।।४१।।

हिंसादि पापों के त्यागरूप मुनि-श्रावक धर्म अहिंसादिरूप हैं । अहिंसादिरूप चारित्र का आशय मात्र बाह्य हिंसादि प्रवृत्तियों के त्यागरूप ही नहीं, अपितु अंतरंग कषाय शक्ति के अभावरूप है । 'सम्यक्चारित्र के विरोधी कषायभाव हैं' – इसे स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है :–

प्रविहाय च द्वितायान् देशचरित्रस्य सन्मुखायातः ।
नियमं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति ।।१२५।।

कषायें पच्चीस होती हैं – अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४८

[2] हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । – तत्त्वार्थसूत्र, अ० ७, सूत्र १

[3] हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रं ।।
– रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ४९

इनमें अनन्तानुबंधी कषाय स्वरूपाचरणचारित्र को, अप्रत्याख्यानावरण देशचारित्र को, प्रत्याख्यानावरण सकलचारित्र को और संज्वलन कषाय यथाख्यातचारित्र को घातने में निमित्त है।[1]

चारित्रपाहुड़ में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र की चर्चा सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र इन दो रूपों में की है और सम्यक्ताचरण चारित्र से भ्रष्ट संयम का आचरण करने वालों को मुक्ति का अभाव बतलाया है।[2]

संयमाचरण चारित्र के दो भेद किये हैं – सागार और निरागार (अनगार)। ससंग गृहस्थों के सागार और सर्वसंग रहित मुनियों के अनगार चारित्र होता है।[3]

चरणानुयोग के शास्त्रों का मुख्य वर्ण्य-विषय श्रावक और मुनियों का आचरण ही है। अतः उन शास्त्रों में बड़ी ही सूक्ष्मता से देशचारित्र और सकलचारित्र का विवेचन है। प्रस्तुत कृति श्रावक के आचरण का अर्थात् देशचारित्र का विस्तार से विवेचन करती हुई सकलचारित्र को संक्षेप में समेट लेती है।

हिंसादि पांचों पापों के त्यागरूप होने से मुनिश्रावक धर्म अहिंसादि व्रतरूप हैं। अतः उन्हें समझने के पूर्व अहिंसा-हिंसा, सत्य-असत्य, अचौर्य-चोरी, ब्रह्मचर्य-कुशील, अपरिग्रह-परिग्रह को समझना आवश्यक है। इन पर समीक्ष्य कृति में विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

हिंसा-अहिंसा

हिंसा-अहिंसा की व्याख्या जिनागम में अत्यधिक सूक्ष्मता से की गई है। अमृतचन्द्राचार्य ने अंतरंगपक्ष को लक्ष्य में रखते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है कि – आत्मा में मोह-राग-द्वेष की उत्पत्ति ही हिंसा है और इन भावों का आत्मा में उत्पन्न न होना ही अहिंसा है :–

---

[1] जैनसिद्धान्तप्रवेशिका, गोपालदास बरैया, पृष्ठ ६१

[2] अष्टपाहुड़ (चारित्रपाहुड़), गाथा १०

[3] (क) अष्टपाहुड़ (चारित्रपाहुड़), गाथा २१
(ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक ५०

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

कसायपाहुड़ में भी अहिंसा के बारे में इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है :–

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति देसिदं समये ।
तेसिं चे उप्पत्ती, हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥[1]

उपर्युक्त हिंसा की परिभाषाएँ भावहिंसा को दृष्टि में रखकर बनाई गई हैं ।

प्रस्तुत कृति में हिंसा की अन्य दृष्टि से भी परिभाषा दी गई है :–

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

कषायरूप से परिणमित मन, वचन, काय के योग से द्रव्य और भावरूप प्राणों का घात करना ही हिंसा है ।

इसी प्रकार के भाव आचार्य उमास्वामी ने हिंसा के बारे में प्रगट किए हैं :–

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।'[2]

हिंसा दो प्रकार की होती है :–

भावहिंसा और द्रव्यहिंसा । इन दोनों के स्व और पर की दृष्टि से दो-दो भेद होते हैं । इस प्रकार हिंसा के चार भेद हुए – स्वभाव-प्राणहिंसा, परभावप्राणहिंसा, स्वद्रव्यप्राणहिंसा, परद्रव्यप्राणहिंसा ।

आत्मा में विकारीभाव राग-द्वेषादि की उत्पत्ति स्वभावप्राण-हिंसा है, क्योंकि इससे स्वात्मा के शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का घात होता है । तथा प्रमाद के कारण स्वांगों (अपने अवयवों) को कष्ट देना, आत्महत्या आदि करना स्वद्रव्यप्राणहिंसा है । अन्य प्राणियों के अंतरंग को व्यंग्य, परिहास, कुवचनादि द्वारा पीड़ित करना परभावप्राणहिंसा है । प्रमाद के वशीभूत होकर अन्य के

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोष, भाग १, पृष्ठ २२५

[2] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र १३

प्राणों का घात करना, अंग-पीड़ा आदि देना परद्रव्यप्राणहिंसा है।

परजीव के घातरूप हिंसा दो प्रकार की होती है :–

अविरमणरूप और परिणमनरूप।

'हिंसायाअविरमणं हिंसा परिणमनपि भवति हिंसा'[1]

यद्यपि कोई जीव परजीव के घात में प्रवर्त्तन न भी कर रहा हो, तथापि यदि उसने हिंसा का त्याग न किया हो, तो उसे अविरमणरूप हिंसा कहते हैं।

जब जीव परजीव के घात में मन से, वचन से अथवा काय से प्रवर्त्तन करे तब उसे परिणमनरूप हिंसा कहते है।[2]

हिंसा-अहिंसा की परिभाषा को अमृतचन्द्राचार्य ने बहुत व्यापक रूप दिया है। उन्होंने असत्य आदि शेष सभी पापों को भी हिंसा में शामिल कर लिया है जबकि ऐसा कथन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अपनी इस बात को सिद्ध करते हुए उन्होंने कहा है :–

रागभाव हिंसा है; अतः असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह भी रागादिभावरूप होने से हिंसा ही है। ऐसा कहते हुए प्रस्तुत कृति में कहा गया है कि पांच पापरूप भेदकथन तो मात्र समझाने के लिये किया गया है :–

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ।।४२।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध सीधा आत्मपरिणामों से है। ये दोनों ही आत्मा के विकारी-अविकारी परिणाम हैं। हिंसा अहिंसा न तो जड़ में होती है और न ही जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति-स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं। अतः हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध परजीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है। पर के कारण आत्मा में हिंसा नहीं होती। इस कथन पर विशेष दृष्टि डालते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा है :–

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ४८

[2] पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ४८ का भावार्थ

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपिकार्या ।।४६।।

प्रस्तुत कृति में अंतरंग में होने वाली रागादिभावरूप भावहिंसा की ओर ही विशेष ध्यान आकर्षित किया है तथा यही वास्तविक हिंसा है। हिंसा-अहिंसा का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति व असंभव दोष से रहित यही हो सकता है। इसे अनेक प्रकार से सिद्ध करते हुए हिंसा का लक्षण 'परजीव के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना' क्यों नहीं है, यह भी सिद्ध किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि 'प्राणों का पीड़न हिंसा है' यह परिभाषा स्वीकार करने पर निम्नानुसार दोष आयेंगे :-

अव्याप्ति – जो लक्षण किसी लक्ष्य में तो हो और किसी में न हो अर्थात् लक्ष्य के एकदेश में रहे वह अव्याप्ति दोष है।

यहाँ 'जीवों के प्राणों को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है'; हिंसा की इस परिभाषा में उपरोक्त दूषण लगता है, क्योंकि योग्य आचरण वाले सन्त पुरुषों के रागादिभावों के अभाव में केवल प्राणपीड़न से हिंसा नहीं होती। आलोच्य कृति में कहा गया है :-

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
नहि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ।।४५।।

इस प्रकार पीड़ारूपी हेतु के विद्यमान होने पर भी हिंसारूपी कार्य की अविद्यमानता होने से यह लक्षण लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त न रहकर एकदेश में ही रहा, अतः यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित हुआ।

अतिव्याप्ति – जो लक्षण लक्ष्य व अलक्ष्य दोनों में पाया जाए वह अतिव्याप्ति दोष है।

हिंसा की उपरोक्त परिभाषा में यह दोष भी लगता है, क्योंकि रागादिभाव की विद्यमानता में अयत्नाचार प्रवृत्तिशील पुरुषों के द्वारा जीव मरें या न मरें हिंसा होती ही है।[1]

---

[1] मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ।। – प्रवचनसार, गाथा २१७

इसी दृष्टिकोण से समीक्ष्य ग्रन्थ में कहा गया है :–

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ।।४६।।

इस प्रकार प्राणों के घात न होने पर भी हिंसा होने से यह लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में विद्यमान होने के कारण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है ।

अतः 'परजीवों के प्राणों का पीड़न ही हिंसा है' यह हिंसा की परिभाषा उचित नहीं है वरन् राग-द्वेषभाव अर्थात् कषायें ही हिंसा है, क्योंकि इनके होने पर हिंसा अवश्य ही होती है और इनके न होने पर हिंसा कदापि नहीं होती । इसे ही स्पष्ट करते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा गया है :–

'यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ।।४७।।

कषाय भावों के द्वारा जीव अपने द्वारा ही अपने प्राणों का घात करता है, अतः हिंसा अवश्य होती है । कहा भी है :–

'तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्' ।। ४८ ।।

इस प्रकार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रमाद के योग में प्राणों के घात को हिंसा कहा है ।

प्रस्तुत कृति में सर्वत्र भावों पर ही विशेष बल दिया है । हास्य, अति, शोक, भय, जुगुप्सा, अभिमान आदि भावों को हिंसा के कारण नहीं, वरन् इन्हें हिंसा की पर्याय ही कहा है :–

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या. ।
हिंसायाः पर्यायाः.....।।६४।।

न केवल परिभाषा में भावों की प्रधानता है वरन् त्याग करने के क्रम में भी भावों की ही प्रधानता है । भावों के विभिन्न रूप में होने से फल भी अनेक रूप धारण कर लेता है ।

इस प्रकार प्रस्तुत कृति में हिंसा के फल का प्रदर्शन करते हुए भावहिंसा और द्रव्यहिंसा में भावहिंसा की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है[1], जिसका भाव निम्नानुसार है :–

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५१ से ५७ तक

एक जीव हिंसा (द्रव्यहिंसा) न करते हुए भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र होता है। जैसे किसी मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को मारने का संकल्प किया, फिर भी उसे मार न सका किन्तु फल तो भावों के अनुसार मिलता है, अतः यह मनुष्य हिंसा न करते हुए भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र होता है। पर दूसरा जीव हिंसा (द्रव्यहिंसा) करके भी हिंसा के फल को भोगने का पात्र नहीं होता। जैसे यत्नाचार प्रवृत्तिशील मुनिराजों के द्वारा ईर्यासमितिपूर्वक चलने पर भी यदि कोई प्राणी मर जाए तो भी परिणामों में मारने के भाव न होने के कारण वे द्रव्यहिंसा करते हुए भी हिंसा के फल के भागीदार नहीं होते।

एक जीव को अल्पहिंसा महान हिंसा के फल को देती है तो दूसरे को महान हिंसा अल्प फल को देती है। जब कोई जीव बाह्य हिंसा तो थोड़ी करता है पर प्रमादी होकर कषायरूप बहुत परिणमन करता है तब वह उदयकाल में हिंसा का फल बहुत पाता है। और कोई जीव जब कारणवश बाह्य हिंसा तो बहुत करता है, परन्तु उस क्रिया में उदासीन रहता है तो उसे उदयकाल में हिंसा का फल भी कम मिलता है।

दो पुरुषों के द्वारा एक साथ मिलकर की गई हिंसा भी फलोदय काल में एक को तीव्रफलदायी व एक को मंदफलदायी होती है। जैसे दो पुरुषों ने मिलकर किसी व्यक्ति की हत्या की तो जिसे उस व्यक्ति की हत्या करने का तीव्र विकल्प होगा उसे हिंसा का तीव्र फल मिलेगा और जिसे मारने का तीव्र राग तो नहीं है पर साथी का साथ देने को ही मार रहा है उसे हिंसा का फल मंद मिलेगा।

कोई हिंसा (भावहिंसा) हिंसा (द्रव्यहिंसा) करने के पहले ही फल दे देती है जैसे – किसी जीव ने हिंसा करने का विचार किया परन्तु उसे कार्यरूप में परिणमित नहीं कर सका। पर विचार करने से जो कर्म बंधा था उसका फल उदय में आ गया और बाद में वह विचार कार्यरूप परिणमित हो गया। इस तरह हिंसा हिंसा होने के पहले ही फल दे गई।

कोई हिंसा हिंसा करने के पश्चात् फल देती है। जैसे हत्या करने के बाद सजा मिलना।

कभी हिंसा पूर्णरूप से न किए जाने पर भी हिंसा का फल दे देती है अर्थात् हिंसा करने का विचार किया तथा हिंसा करना प्रारम्भ कर दिया लेकिन कारणवश उसे पूरी नहीं की तो भी वह फलित हो जाती है। जैसे – किसी व्यक्ति ने हत्या करने के लिए औजार आदि जुटा लिए और ज्योंही वह हत्या करने को उद्यमी हुआ त्योंही डर के कारण उसका विचार बदल गया। पर उसी अवस्था में पकड़े जाने पर उसे हत्या करने के प्रयास की सजा मिल जाती है अर्थात् हिंसा न होने पर भी हिंसा का फल मिल गया।

कभी एक पुरुष हिंसा करता है और उसके फल के भागी अनेक पुरुष होते हैं। जैसे – एक व्यक्ति ने डाकू को मारा तो हिंसा तो एकने की पर सबने उसके कार्य की अनुमोदना की, अतः उस हत्या के फल के भागी अनेक पुरुष हुए।

कभी हिंसा अनेक पुरुष करते हैं पर उसके फल का भागी एक पुरुष होता है। जैसे – युद्ध में लड़ते तो अनेक सैनिक हैं, हिंसा तो अनेक जन करते हैं, पर उसका फल का भागी उसको आज्ञा देने वाला राजा होता है।

किसी पुरुष को हिंसा फलकाल में हिंसा का फल देती है और किसी को वही हिंसा अहिंसा का फल देती है। जैसे – किसी डॉक्टर ने बचाने के भाव से रोगी का ऑपरेशन किया पर वह मर गया तो उसके द्वारा की गई हिंसा भी उसे अहिंसा का फल देती है।

किसी को अहिंसा हिंसा का फल देती है। जैसे – किसी ने किसी व्यक्ति को मारने के भाव से विष दिया पर उससे उस व्यक्ति का असाध्य रोग दूर हो गया। यद्यपि उस व्यक्ति द्वारा उसका भला हुआ फिर भी उसे हिंसा का फल ही प्राप्त होगा।

यह सब विचित्रता भावों के अनुसार ही है। जिसके जैसे भाव होते हैं उसे वैसा ही फल मिलता है।

इस प्रकार हिंसा-अहिंसा की परिभाषा व फल प्रदर्शित करने के पश्चात् हिंसा के त्याग करने का उपदेश देते हैं :–

'नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा' ।।६०।।

यह त्याग दो प्रकार का होता है :–

(१) उत्सर्गरूप[1] और (२) अपवादरूप।[2]

मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार की तथा इनमें प्रत्येक के साथ कृत, कारित, अनुमोदन – ये तीन भेद मिलकर कुल नौ भेद उत्सर्गरूप निवृत्ति के होते हैं।

अपवादरूप निवृत्ति के तो अनन्त भेद हो सकते हैं। अपवादरूप निवृत्ति के कुछ भेदों को अमृतचन्द्राचार्य ने गिनाया है, जिनकी चर्चा आगे करेंगे।

इसे प्रस्तुत कृति में निम्न श्लोक में दर्शाया है :–

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७५॥

यद्यपि इस अहिंसाव्रत का पूर्ण पालन करना उत्तम है तथापि जो पूर्णरूप से अहिंसा धारण करने में, हिंसा का त्याग करने में असमर्थ हैं उन्हें क्या करना चाहिए? यह स्पष्ट करने के लिए आलोच्य ग्रन्थ में हिंसा के त्याग का क्रम प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर[3] फल का त्याग करना चाहिए :–

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

इनके सेवन में दोष प्रदर्शित करते हुए इनके त्याग का फल बताया है।

मद्यादि के दोष बतलाते हुए उन्होंने सर्वत्र एक क्रम का ध्यान रखा है। पहले वे मद्यादि को परम्परा-हिंसा का कारण बतलाते हैं, फिर उन्हें हिंसादि का साक्षात् कारण सिद्ध करते हैं और इन सभी में द्रव्यहिंसा तथा भावहिंसा का सद्भाव बतलाते हुए इनके त्याग की प्रेरणा देते हैं।

---

[1] सामान्यरूप से सर्वथा प्रकार त्याग करने को उत्सर्ग त्याग कहते हैं।

[2] सर्वथा त्याग करने में असमर्थ जीव द्वारा जो अंशरूप में त्याग किया जाता है उसे अपवाद त्याग कहते हैं।

[3] ऊमर, कठूमर, बड़, पीपल, पाकर। – पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ७२

इसी क्रम को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने सर्वप्रथम मदिरा को हिंसा का परम्परागत कारण बतलाते हुए कहा है कि – "मदिरा मन को मोहित करती है और मोहितचित्तपुरुष धर्म को भूल जाता है और धर्म को भूला हुआ पुरुष निडर होकर हिंसादि पापों में प्रवृत्त होता है।[१] फिर द्रव्यहिंसा का साक्षात् कारण बतलाते हुए कहा है– मदिरा बहुत रस से उत्पन्न हुए जीवों का उत्पत्ति स्थान है, अतः इसके सेवन से अवश्य ही उन जीवों की हिंसा होती है"।[२]

इसके बाद भावहिंसा की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं– "क्रोधादि कषायें व हास्यादि भाव भी हिंसा की पर्याय हैं जो कि मदिरा के निकटवर्ती हैं[३] अर्थात् मदिरा पान करने वाले जीव में ये तीव्ररूप में पाए जाते हैं। जैसे – काम की इतनी तीव्रता होती है कि माता के साथ भी कामक्रीड़ा करने लग जाता है"।[४]

इस प्रकार मदिरा को पूर्व में परम्पराहिंसा का कारण बता कर, उसे साक्षात् हिंसा का हेतु भी बताया है और अंत में उसमें भावहिंसा का दिग्दर्शन कराया गया है।

इसके पश्चात् मांस के दोष को बताते हुए कहा गया है कि मांस खाने में अन्य प्राणियों का घात होता है, अतः मांस में हिंसा है।[५] न केवल प्राणियों को मारकर मांस भक्षण में हिंसा है वरन् स्वयं मरे हुए जीवों के मांस खाने में भी हिंसा होती है, क्योंकि इस भक्षण में मांस के आश्रित रहने वाले सूक्ष्म जीवों का घात होता है। इन सूक्ष्म[६] जीवों की मांस में उत्पत्ति हर समय एवं हर हालत में कच्ची अवस्था में, पकी हुई अवस्था में या पकती हुई अवस्था में होती

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६२

२ वही, श्लोक ६३

३ वही, श्लोक ६४

४ वही, श्लोक ६४ की टीका

५ वही, श्लोक ६५

६ वही, श्लोक ६६

ही रहती है।[१] इस प्रकार इसके दोष बताते हुए, इसके त्याग की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि इनके खाने की बात तो दूर ही रही, इनके स्पर्शमात्र में भी हिंसा होती है[२]। अतः मांस का तो छूना ही महापाप है।

इसी प्रकार मधु के बारे में भी अपने विचार सतर्क प्रस्तुत किए हैं।

इस प्रकार सहेतुक दोषों का प्रतिपादन करने के पश्चात् इन तीनों के त्याग करने के लिए प्रेरित करते हुए वे कहते हैं कि इनमें इन्हीं वस्तुओं के समान-रंग वाले अनेक जीव रहते हैं।[३]

पांच उदुम्बर फलों में त्रसजीवों की उत्पत्ति होती रहती है, अतः इनके भक्षण से त्रसजीवों का घात होने के कारण हिंसा होती है।[४] यदि इन उदुम्बर फलों में से त्रसजीव समाप्त भी हो जाएँ तो भी इनका भक्षण हेय है, क्योंकि इनके सेवन में तीव्र राग रहता है[५] और रागभाव ही तो हिंसा है।

अतः हिंसा के कारण इन आठों पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। ये दुःखदायक व पाप के स्थान हैं।

रात्रिभोजन त्याग – रात्रिभोजन में अनिवार्य रूप से हिंसा होती है। इसे सिद्ध करते हुए प्रस्तुत कृति में रात्रिभोजन के त्याग करने का उपदेश दिया गया है।

रागादि भावों की तीव्रता को रात्रिभोजन में सोदाहरण सिद्ध करते हुए रात्रिभोजन में रागादिभाव के सद्भाव के कारण भाव-हिंसा होती है, यह प्रतिपादित किया गया है। तथा द्रव्यहिंसा का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि रात्रि में भोजन करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है; अतः मन, वचन, काय से रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।

---

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६७

२ वही, श्लोक ६८

३ वही, श्लोक ७१

४ वही, श्लोक ७२

५ वही, श्लोक ७३

इस प्रकार इन्हें विशेष रूप में विवेचित कर सामान्य रूप में कह दिया गया है कि जो जीव अहिंसा धर्म को पालन करने के इच्छुक हैं व स्थावर हिंसा के त्याग करने में असमर्थ हैं उन्हें त्रसहिंसा का त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए।[1] उक्त कथन के आधार पर कहीं कोई जीव स्थावर प्राणियों की हिंसा में स्वच्छन्द प्रवृत्ति न करने लगे – यह विचार कर वह पुनः सावधान करते हुए कहते हैं कि हमें प्रयोजनभूत स्थावर हिंसा के अतिरिक्त शेष स्थावर जीवों की हिंसा का भी त्याग करना चाहिए।[2]

इस प्रकार संक्षेप में अपवादिकी हिंसा का दिग्दर्शन करा दिया गया है। शेष भेद इसी तरह स्वयं अनुमानपूर्वक जान लेना चाहिए।

तदनन्तर अहिंसा धर्म के पालन करने का उपदेश देते हुए उन्होंने सावधान किया है कि कदाचित् किसी को हिंसक प्रवृत्ति करते हुए भी लौकिक अनुकूलता दिखाई दे और अहिंसक वृत्ति वाले दुःखी दिखाई दें तो भी अहिंसा धर्म का पालन करते हुए स्वयं को दुःखी अनुभव नहीं करना चाहिए।[3]

इसके पश्चात् ७९ से लेकर ८९वें श्लोक तक उन-उन तर्कों व युक्तियों का सतर्क निरसन किया है जिनके द्वारा हिंसा में धर्म (अहिंसा) बताया जाता है, यह विवेचन उनकी दूरदर्शिता व सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचायक है, जो निम्नानुसार है :–

सर्वप्रथम तीन श्लोकों में देव-शास्त्र-गुरु के लिए की गई हिंसा को धर्म मानने का निषेध किया है। जैसे कि कोई कहे धर्म तो सूक्ष्म है, अतः धर्म के निमित्त यज्ञादि में हिंसा करने में कोई दोष नहीं है। लेकिन यह उचित नहीं है क्योंकि हिंसा तो हिंसा ही है वह कदापि धर्मरूप – अदोषरूप नहीं हो सकती। अथवा धर्म देवों से उत्पन्न हुआ है ऐसा मानकर उन्हें कुछ भी दे देना चाहिए – जीवों को मार कर भी चढ़ा देना चाहिए; ऐसा विचार कर भी कभी हिंसा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि परजीवों के मारने से धर्म कैसे हो सकता है ? क्योंकि जीव को मारते समय भी हमारे परिणाम अत्यन्त क्रूर रहते

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ७६

[2] वही, श्लोक ७७

[3] वही, श्लोक ७८

हैं। जब कारण ऐसा हो तो फल अच्छा कैसे होगा ? भला नीम के वृक्ष से भी कभी आम उत्पन्न होते हैं ? इसी प्रकार पूज्य पुरुषों व अतिथियों के लिए भी जीवों का घात नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार अनेक स्थावर जीवों की हिंसा से बचने के लिए एक त्रसजीव की हिंसा करना उचित नहीं है। कुछ लोग कहते हैं – बहुत से जीवों के घात से उत्पन्न हुए भोजन की अपेक्षा एक जीव का भोजन अच्छा है अर्थात् यदि हम हाथी आदि बड़े प्राणी को मारकर भोजन करें तो एक जीव की हिंसा हुई और भोजन अधिक दिन तक चला। अतः अनेक स्थावर जीवों के स्थान वनस्पति की अपेक्षा एक त्रसजीव को खाना श्रेष्ठ है। उनसे कहते हैं कि यह ठीक नहीं है। क्योंकि हिंसा प्राणघात से होती है और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के द्रव्यप्राण और भावप्राण अधिक पाए जाते हैं, अतः एकेन्द्रिय जीवों को मारने की अपेक्षा द्वीन्द्रिय को मारने में पाप अधिक होता है। उसी प्रकार द्वीन्द्रिय की अपेक्षा त्रीन्द्रिय के घात में, त्रीन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय के घात में और चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय के घात में अधिक पाप होता है।[1] इसी प्रकार वे कहते हैं कि एक हिंसक जीव (सर्प, सिंहादि) की हिंसा करने से अनेक जीवों की रक्षा होती है, ऐसा मानकर भी हिंसक जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[2] अथवा बहुत से जीवों को मारने वाला (शिकारी आदि) जीव जीवित रहेगा तो बहुत पाप करेगा, ऐसा विचार कर भी दयापूर्वक उसे नहीं मारना चाहिए।[3]

इस प्रकार इन तीन श्लोकों में अन्य जीवों द्वारा अधिक हिंसा होगी, इस प्रकार विचार कर उन-उन हिंसक जीवों की हिंसा का निषेध किया। इसी प्रकार कोई प्राणी स्वयं दुःखी हो तो उसे मारने से उसके दुःखों का अन्त शीघ्र हो जाएगा; यह सोचकर दुःखी जीवों को[4] अथवा यह जीव अभी सुखी है और सुख की प्राप्ति कष्ट से होती है, अतः इस अवस्था में मारने पर यह परलोक में भी सुखी

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ८२ का भावार्थ

[2] वही, श्लोक ८३

[3] वही, श्लोक ८४

[4] वही, श्लोक ८५

होगा[1], ऐसा विचार कर भी दूसरे जीव को नहीं मारना चाहिए। अथवा हमारे गुरु ने समाधि का सार पा लिया है, कहीं ये बाद में पथ-भ्रष्ट न हो जाएँ, ऐसा विचार कर शिष्य द्वारा गुरु का मस्तक नहीं काटना चाहिए।[2]

उपर्युक्त विवेचन से तत्कालीन परिस्थितियों में धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का चित्र भी उपस्थित होता है। अर्थात् उस समय उनके आस-पास के क्षेत्र-काल में धर्म के नाम पर इस प्रकार की प्रवृत्तियां मौजूद थीं; जिनमें यज्ञादि में पशुओं का होम, सिंहादि का शिकार व गुरु के मस्तक तक काट देने की हिंसक प्रवृत्ति को धर्म माना जाता था और धर्म के नाम पर इन सब महापापों में निःशंक प्रवृत्ति देखी जाती थी। दूसरी बात यह भी उजागर होती है कि ऐसे वातावरण में भी उन्होंने निर्भय होकर डंके की चोट अपना मत व्यक्त किया व धार्मिक हिंसा के विरुद्ध वातावरण बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

इस प्रकार परघात के त्याग के प्रति सावधान करने के पश्चात् प्रस्तुत कृति में स्वघात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि क्षुधा-पीड़ित मनुष्य को देखकर अपने प्राणों का उत्सर्जन या अपने अंगों का घात करके उसकी क्षुधा को तृप्त नहीं करना चाहिए[3] तथा खारपटिक मत के समान 'झटिति घटचटकमोक्षं'[4] की तरह अपने शरीर का घात नहीं करना चाहिए।[5]

हिंसा-अहिंसा का लक्षण, हिंसा को त्याग करने का क्रम व किन-किन रूपों में हिंसा को अहिंसा सिद्ध किया जाता है, आदि बातों का विवेचन करने के पश्चात् सत्य-असत्य का वर्णन किया गया है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ८६

[2] वही, श्लोक ८७

[3] वही, श्लोक ८९

[4] घड़े में पक्षी कैद है, यदि घड़े को फोड़ दिया जाए तो पक्षी को मुक्ति हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा शरीर में कैद है, यदि शरीर को समाप्त कर दिया जाय तो आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

[5] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ८८

सत्य-असत्य

प्रमाद के योग से अन्यथारूप वचन कहना ही असत्य है। प्रस्तुत कृति में असत्य वचन की यही परिभाषा देते हुए असत्य वचन के चार भेद बताए हैं :–

'यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ।।९१।।

इस परिभाषा में 'प्रमाद' शब्द महत्त्वपूर्ण है। अन्यथा वचन को तो सभी असत्य मानते हैं। जो जैसा है उसे वैसा न कहना ही अन्यथा वचन है, जैसे रस्सी को सर्प कहना; पर प्रमाद शब्द का प्रयोग असत्य की परिभाषा में एक नया ही मोड़ दे देता है। यही शब्द तो असत्य और चोरी इन दोनों पापों की परिभाषा की रीढ़ है। यदि असत्यादि की परिभाषा में से यह शब्द निकाल दिया जाए तो फिर यह लक्षण आत्मारहित देह के समान ही रह जाएगा।

कुशील के साथ 'प्रमत्तयोगात्' के स्थान पर 'रागयोगात्' और परिग्रह के साथ 'मोहयोगात्' का प्रयोग किया गया है। यद्यपि इन तीनों में सूक्ष्म भेद है तथापि स्थूलरूप से प्रमाद के अर्थ में ही इन सबका प्रयोग समझना चाहिए, क्योंकि उमास्वामी ने पांचों पापों के साथ 'प्रमत्तयोगात्' शब्द का ही प्रयोग किया है। इसमें इनका आशय यह जान पड़ता है कि प्रमाद में तो राग-द्वेष सभी शामिल हैं, किन्तु कुशील सेवन में राग का योग ही अधिक देखा जाता है। इसी तरह परिग्रह में मोह-ममता की विशेषता देखी जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर अमृतचन्द्राचार्य द्वारा अब्रह्म (कुशील) के साथ राग और परिग्रह के साथ मोह का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है।

पांचों पापों की परिभाषा में रीढ़ सदृश इस प्रमाद शब्द के अर्थ का यत्किंचिद् परिचय आवश्यक है।

कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं।[1] यद्यपि इसके अनुत्साह आदि अनेक अर्थ हैं, पर प्रस्तुत कृति में यही अर्थ अभिप्रेत है। इस कृति में इस शब्द का महत्व अग्रिम वर्णन से स्पष्ट हो जाएगा।

---

[1] 'प्रमादः सकषायत्वं' – सर्वार्थसिद्धि, अध्याय १, सूत्र १३

असत्य वचन के चार भेद हैं व इसमें चतुर्थ भेद के तीन प्रभेद हैं, जो निम्नानुसार हैं :–

(१) सत्य का अपलाप
(२) असत्य का उद्भावन
(३) अन्यथा प्ररूपण
(४) (अ) गर्हित वचन (आ) अवद्यसंयुक्त वचन
(इ) अप्रिय वचन

इन्हें ९२वें से ९८वें तक के श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। जिनका भाव निम्नानुसार है :–

(१) विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान कहना 'सत् का अपलाप असत्य वचन' है। जैसे – देवदत्त के होने पर भी यह कहना कि यहाँ देवदत्त नहीं है।

(२) अविद्यमान को विद्यमान कहना 'असत् का उद्भावन असत्य वचन' है। जैसे – घड़े के न होने पर भी यह कहना कि यहाँ घड़ा है।

(३) कुछ का कुछ कहना अर्थात् वस्तु जैसी है वैसा न कहकर अन्यथा कहना 'अन्यथा प्ररूपण असत्य वचन' है। जैसे – गाय को घोड़ा कहना, अथवा हिंसा में धर्म बताना।

(४) (अ) निन्दनीय, शास्त्रविरुद्ध, कर्कश आदि वचनों को 'गर्हित असत्य वचन' कहते हैं।

(आ) छेदना, काटना, मारना, खींचना, परवस्तु के चोरी करने आदि के वचन 'अवद्यसंयुक्त असत्य वचन' हैं। अवद्य से तात्पर्य पाप से है। उपर्युक्त वचन प्राणीहिंसादि पापरूप होने से 'अवद्यसंयुक्त असत्य वचन' में सम्मिलित हैं।

(इ) दूसरे जीवों को अप्रीतिकारक, भयकारक, खेद-कारक, वैरकारक, शोककारक, कलहकारक तथा अन्य भी सन्तापकारक वचन 'अप्रिय असत्य वचन' हैं।

अप्रीतिकारक वचन कब हिंसा होते हैं – इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

"प्रमाद सहित कष्टदायक वचन ही अप्रिय असत्य वचन हैं। प्रमाद रहित महामुनि के पापादि त्यागरूप वचन यद्यपि पापी को अप्रिय लगते हैं पर फिर भी ये असत्य वचन नहीं हैं, क्योंकि इनमें प्रमाद का योग नहीं है।"

यहाँ असत्य वचन की परिभाषा में प्रमाद शब्द का प्रयोग न करने पर 'अप्रिय असत्य वचन' का तो कभी अभाव ही नहीं होगा, क्योंकि सच्चे व अच्छे सत्य वचन भी अनेकों जीवों को अप्रिय लग सकते हैं।

भेद विवेचन के उपरान्त असत्य वचन में हिंसा का सद्भाव बतलाते हुए प्रतिपादित किया गया है कि – "प्रमाद सहित योग की विद्यमानता हिंसा व असत्य वचन दोनों में ही विद्यमान है, अतः एक हेतु होने के कारण असत्य भी हिंसारूप ही है।"[1]

अन्त में असत्य वचन के त्याग का क्रम बताते हुए प्रस्तुत कृति में कहा गया है :– "यद्यपि समस्त ही असत्य वचन त्यागने योग्य हैं तथापि यदि प्राणी न्यायपूर्वक भोगोपभोग के कारणभूत सावद्य असत्य वचन त्यागने में असमर्थ हैं तो उन्हें शेष असत्य वचनों का त्याग अवश्य करना चाहिए।"

चोरी-अचोरी

प्रमाद के योग से बिना दिए स्वर्ण-वस्त्रादि परिग्रह का ग्रहण करना चोरी है। प्रस्तुत कृति में कहा है :–

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं..... ॥१०२॥

तदनन्तर चोरी में परम्परा व साक्षात् हिंसा है यह सिद्ध किया है। चोरी को हिंसा सिद्ध करने के उपरान्त चोरी के त्याग करने के क्रम का वर्णन करते हुए वे कहते हैं :–

असमर्था ये कर्त्तुं निपानतोयादिहरणाविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

जो जीव दूसरे के कुओं, जलाशय आदि से बिना पूछे जल आदि ग्रहण करने के त्याग करने में असमर्थ हैं, उन्हें भी अन्य सर्व बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण करने का त्याग करना चाहिए।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ९९

ब्रह्म-अब्रह्म

वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुषों के सहवास को अब्रह्म कहा जाता है। आलोच्य कृति में इसी भाव को प्रदर्शित करते हुए अब्रह्म में सर्वत्र हिंसा का सद्भाव बतलाया हैं :–

यद्वेदरागायोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ।।१०७।।

मैथुन में रागादि के कारण भावहिंसा तथा प्राणियों के वध के कारण द्रव्यहिंसा भी होती है।

अपरिग्रह-परिग्रह

मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं और मोह के उदय से ममत्व को प्राप्त परिणाम मूर्च्छा है। यही भाव प्रस्तुत कृति में निम्न श्लोक में प्रदर्शित किया गया है :–

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहादयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः ।।१११।।

ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है। यह लक्षण देने के पश्चात् इसे ही अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों से रहित परिग्रह का निर्दोष लक्षण सिद्ध किया गया है।

बाह्य परिग्रह रहित होने पर भी मूर्च्छा सहित जीव के परिग्रह होता ही है, अतः इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं हुआ। मूर्च्छा रहित होने पर वीतरागी पुरुषों के कार्माणवर्गणा के ग्रहण होने पर भी परिग्रह नहीं है, अतः अतिव्याप्ति दोष नही हुआ। यदि बाह्य परिग्रह को परिग्रह का लक्षण मानें तो उपरोक्तानुसार दोनों दोष आ जायेंगे। अतः मोह के उदय से ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है, यह लक्षण सिद्ध हुआ।

उक्त लक्षण से यह स्पष्ट होता है कि अन्तरंग परिग्रह ही वास्तविक परिग्रह है और इसी पर अमृतचन्द्राचार्य ने अधिक बल दिया है।

यद्यपि अन्तरंग परिग्रह ही वास्तविक परिग्रह है तथापि बाह्य वस्तुएँ भी मूर्च्छा में निमित्त बनती हैं, अतः बाह्य वस्तुओं को भी जिनागम में परिग्रह संज्ञा प्राप्त है।

इस प्रकार परिग्रह दो प्रकार का होता है – अंतरंग और बहिरंग।

इनमें अन्तरंग परिग्रह के चौदह व बहिरंग के दो भेद होते हैं। जिनका नाम-निर्देश प्रस्तुत कृति में निम्न श्लोकों में किया गया है :–

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः ।।११६।।

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।।११७।।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्त्रीवेद का राग, पुरुषवेद का राग, नपुंसकवेद का राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा – ये १४ अन्तरंग परिग्रह के भेद हैं।

बहिरंग परिग्रह के अचित्त व सचित्त ये दो भेद हैं। सोना-चांदी आदि अचित्त तथा दासी-दास आदि सचित्त बाह्य परिग्रह हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्य ग्रंथकारों ने जहाँ बहिरंग परिग्रह के दश भेद किए हैं, वहीं आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्हें दो भेदों में समेट लिया है।

मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है। अन्तरंग परिग्रह तो मोहरूप ही है और बहिरंग परिग्रह भी मोह के कारण व मोह के सद्भाव में होते हैं, अतः प्रकारान्तर से परिग्रह भी हिंसा ही है।

बहिरंग परिग्रह समान होने पर भी परिणामों के अनुसार उसके फल में अन्तर आ जाता है। इसे चार श्लोकों में उदाहरणों द्वारा भली-भाँति स्पष्ट किया गया है।[1]

तदनन्तर परिग्रह के त्याग का क्रम प्रदर्शित किया है। परिग्रह में सर्वप्रथम अन्तरंग परिग्रह का त्याग करना होता है तथा अन्तरंग परिग्रह में भी सबसे पहले मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी क्रोध आदि कषायों का त्याग होता है। तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानादि अन्य कषायों का तथा तदनुसार बाह्य परिग्रह का परिमाण व त्याग होता है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२०, १२१, १२२, १२३

अणुव्रत और महाव्रत

उपर्युक्त पाँच पापों के त्याग का नाम ही व्रत है। यह त्याग दो प्रकार का होता है – एकदेश त्याग और सर्वदेश त्याग।

पाँचों पापों के एकदेश त्याग को अणुव्रत और सर्वदेश त्याग को महाव्रत कहते हैं।

इस प्रकार अणुव्रत भी पाँच होते हैं और महाव्रत भी पाँच होते हैं, जो इस प्रकार हैं :–

अणुव्रत (१) अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत
(३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत
(५) परिग्रहपरिमाणाणुव्रत

महाव्रत (१) अहिंसा महाव्रत (२) सत्य महाव्रत
(३) अचौर्य महाव्रत (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत
(५) अपरिग्रह महाव्रत

श्रावक पाँचों अणुव्रतों का धारक होता है और मुनि पाँचों महाव्रतों का धारक होता है। चूँकि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्रावकाचार ग्रंथ है, अतः इसमें पांचों पापों के एकदेश त्यागरूप अणुव्रत का ही विशेष वर्णन है।

सप्त शीलव्रत

इन अहिंसादि अणुव्रतों में गुणात्मक वृद्धि के लिए तीन गुणव्रत कहे गए हैं तथा महाव्रतरूप मुनिधर्म की शिक्षा अर्थात् अभ्यास के लिए चार शिक्षाव्रत होते हैं।

तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों को मिलाकर सप्त शीलव्रत कहते हैं। जैसे कोट नगर की रक्षा करता है और उसकी शोभा भी बढ़ाता है; उसी प्रकार सप्त शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा भी करते हैं और उनमें गुणात्मक वृद्धि करके उनकी शोभा भी बढ़ाते हैं।

गुणव्रत

दिग्व्रत – कषायांश कम हो जाने पर श्रावक द्वारा दशों दिशाओं के प्रसिद्ध स्थानों के आधार पर अपने आवागमन की जीवन

पर्यन्त के लिए सीमा निर्धारण करना लेना और उसका कभी उल्लंघन नहीं करना ही दिग्व्रत है।[१]

देशव्रत – दिग्व्रत से मर्यादित भूमि में ग्राम, बाजार, मोहल्ला, मकान वगैरह का एक माह, एक पक्ष, सप्ताह, दिन आदि में निश्चित काल तक आने-जाने की मर्यादा करके बाहर के क्षेत्र में जाने-आने आदि से विरक्त होना देशव्रत है।[२]

इनके पालन से मर्यादित भूमि से बाहर की भूमि में अहिंसादि व्रतों का विशेष रूप से पालन होता है।

अनर्थदण्डत्यागव्रत– बिना प्रयोजन पाप के उत्पादक कारणों का त्याग करने को अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं। इसके पांच भेद हैं :-

(१) अपध्यान त्यागव्रत (२) पापोपदेश त्यागव्रत
(३) प्रमादचर्या त्यागव्रत (४) हिंसादान त्यागव्रत
(५) दुःश्रुति त्यागव्रत

शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन, चोरी आदि खोटे कार्यों का चिन्तवन अपध्यान है। जिस बात का विचार करने से केवल पाप का ही बंध होता है उसे अपध्यान कहते हैं और इन विचारों के त्याग को ही 'अपध्यान अनर्थदण्डत्यागव्रत' कहते हैं।[३]

पापबंध कराने वाले कार्यों का उपदेश न देना ही पापोपदेश अनर्थदण्डत्यागव्रत है।[४]

निष्प्रयोजन भूमि खोदना, वृक्ष उखाड़ना, घास रोंदना आदि कार्यों के त्याग को प्रमादचर्या अनर्थदण्डत्यागव्रत कहते हैं।[५]

छुरी, धनुष आदि हिंसक उपकरणों के वितरण का त्याग करना ही हिंसादान अनर्थदण्डत्यागव्रत है।[६]

---

[१] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १३७
[२] वही, श्लोक १३९
[३] वही, श्लोक १४१
[४] वही, श्लोक १४२
[५] वही, श्लोक १४३
[६] वही, श्लोक १४४

रागादिवर्द्धक कथाओं को सुनने-सुनाने को त्याग करना ही दु:श्रुति अनर्थदण्डत्यागव्रत है ।[1] सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ होने के कारण जुआ भी त्याज्य है ।[2]

इन अनर्थदण्डों के त्याग से अहिंसादिव्रतों में निरन्तर वृद्धि होती है ।

शिक्षाव्रत

सामायिक – सम्पूर्ण द्रव्यों में राग-द्वेष के त्यागपूर्वक समताभाव का अवलम्बन करके आत्मभाव की प्राप्ति करना ही सामायिक है ।[3]

सामायिक को प्रात: व सायं अवश्य करना चाहिए । सामायिक करने से समस्त पापों का त्याग होता है ।

प्रोषधोपवास – समस्त आरम्भ को छोड़कर शरीरादि में ममत्वबुद्धि का त्याग करके मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्तिपूर्वक आत्मस्वरूप में स्थिरता ही उपवास है ।

इसके पश्चात् विस्तारपूर्वक उपवास की विधि बतलाई है – जिसमें अध्ययन, मनन, चिन्तवन की ओर ही विशेष ध्यान दिलाया गया है ।

यह उपवास तीन प्रकार से किया जाता है :–

जघन्य, मध्यम और उत्तम

जघन्य – पर्व के दिन केवल एकासन करना जघन्य उपवास है। यह आठ प्रहर का होता है ।

मध्यम – केवल पर्व के दिन उपवास करना मध्यम प्रोषधोपवास है । यह बारह प्रहर का होता है ।

उत्तम – पर्व के एक दिन पूर्व व एक दिन बाद एकासनपूर्वक तथा पर्व के दिन पूर्ण उपवास करना उत्तम प्रोषधोपवास है । यह सोलह प्रहर का होता है ।

प्रस्तुत कृति में इसी प्रोषधोपवास का विस्तार से विवेचन है ।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १४५

[2] वही, श्लोक १४६

[3] वही, श्लोक १४८

इस व्रत के करने से अहिंसादिव्रतों का पालन होता है। इसे दो-तीन श्लोकों में स्पष्ट किया है।

भोगोपभोगपरिमाणव्रत – प्रयोजनभूत सीमित परिग्रह के भीतर भी कषाय कम करके भोग और उपभोग का प्रमाण करना भोगोपभोगपरिमाणव्रत है।

पंचेन्द्रिय के विषयों में जो एक बार भोगने में आ सकें उन्हें भोग और जो बार-बार भोगने में आवें उन्हें उपभोग कहते हैं।

इनके परिमाण का क्रम अनेक श्लोकों में वर्णित है। इनके परिमाण करने से अहिंसादि व्रतों का विशेष पालन होता है।

अतिथिसंविभागव्रत – स्व तथा पर के उपकार के लिए, नवधाभक्तिपूर्वक, दातार के गुणों से संयुक्त, दान देने योग्य वस्तुओं का गुणवान पात्रों को दान देना अतिथिसंविभागव्रत है।[1]

उपर्युक्त परिभाषा में आगत नवधा भक्ति, दातार के गुण, प्रदेय वस्तुएँ तथा योग्य पात्र सभी का वर्णन १६८वें श्लोक से १७१वें श्लोक तक क्रमशः किया गया है।

पात्र तीन प्रकार के होते हैं – उत्तम, मध्यम और जघन्य।

सकलचारित्र और सम्यक्त्व सहित महामुनि उत्तम पात्र हैं; देशचारित्र और सम्यक्त्व सहित श्रावक मध्यम पात्र हैं तथा व्रत रहित सम्यक्त्व सहित श्रावक जघन्य पात्र हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व तो पात्र की अनिवार्य शर्त है।

यह अतिथिसंविभाग व्रत हिंसास्वरूप नहीं है, अहिंसास्वरूप ही है। यह तीन श्लोकों में निषेधात्मक व विधेयात्मक दोनों ही दृष्टियों से स्पष्ट किया है। अतिथिसंविभागव्रत का पालन करने वाले के हिंसा का त्याग होता है, अहिंसा का पालन होता है और इसका पालन न करने वाले के हिंसा अवश्य होती है।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन किया है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १६७

सल्लेखना

सल्लेखना समाधिमरण को कहते हैं। यह मरण के अन्त में धारण की जाती है। तथापि पूर्व में यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं मरण समय में शास्त्रोक्त विधि से अवश्य ही सल्लेखना धारण करूँगा। इस सल्लेखना द्वारा कषायें क्षीणता को प्राप्त होती हैं, अतः सल्लेखना द्वारा अहिंसादि व्रतों की सिद्धि होती है।

सल्लेखना से तात्पर्य आत्मघात नहीं है, क्योंकि आत्मघात तो कषायादि की तीव्रतापूर्वक होता है; किन्तु सल्लेखना में कषायों की तीव्रता नहीं होती। मरण को अवश्यम्भावी जानकर भूमिकानुसार कषायों का त्याग करते हुए ही सल्लेखना धारण की जाती है।

सल्लेखना में आत्मघात नहीं है तथा आत्मघाती कौन है इसे प्रदर्शित करने के पश्चात् सल्लेखना को भी शीलव्रतों में सम्मिलित करते हुए सम्पूर्ण शीलव्रतों के पालन का फल संक्षेप में इस प्रकार कहते हैं :– "अहिंसादिव्रतों की रक्षा के लिए जो सम्पूर्ण शीलव्रतों का निरन्तर पालन करता है उस पुरुष को मोक्षरूपी लक्ष्मी अतिशय उत्कंठापूर्वक स्वयंवर की कन्या की तरह स्वयं ही वरण करती है।"[1]

इसके उपरान्त पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत सम्यक्त्व और सल्लेखना के अतिचारों[2] का वर्णन किया गया है।

अतिचार – व्रतों के एकदेश भंग होने अर्थात् दूषण लगने को अतिचार कहते हैं। इनसे व्रतों की शुद्धि में दोष लगते हैं।

बारह व्रतों, सम्यक्त्व एवं सल्लेखना – इन सबके पाँच-पाँच कुल मिला कर सत्तर अतिचार होते हैं। इनका मात्र नाम-निर्देश प्रस्तुत कृति में किया गया है।

सकलचारित्र

पाँचों पापों के सर्वदेश त्याग को सकलचारित्र कहते हैं। तप का अन्तर्भाव भी चारित्र में हो जाता है।

यह तप दो प्रकार का है – बाह्य तप और अन्तरंग तप।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १८०

[2] वही, श्लोक १८१

अनशन, उनोदर, विविक्तशय्यासन, रसत्याग, कायक्लेश, वृत्ति की संख्या – ये बाह्य तप हैं।[1] विनय, वैयावृत्त्य, प्रायश्चित, उत्सर्ग, स्वाध्याय, ध्यान – ये अन्तरंग तप हैं।[2]

प्रस्तुत कृति में सकलचारित्र के धारक मुनियों के कार्यों का वर्णन संक्षेप में है। इनका विशेष वर्णन अन्य ग्रंथों से जानना चाहिए। यहाँ पर तो श्रावक के उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर सकल चारित्र के धारक मुनियों के कार्यों का मात्र नाम-निर्देश किया है। इनका पालन श्रावक को भी अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिए।[3] ये कार्य निम्नानुसार हैं :–

षट् आवश्यक – (१) समता (२) स्तवन (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) प्रत्याख्यान (६) व्युत्सर्ग।

तीन गुप्तियाँ – (१) मनोगुप्ति (२) वचनगुप्ति (३) कायगुप्ति

पाँच समितियाँ – (१) ईर्या (२) भाषा (३) एषणा (४) आदाननिक्षेपण (५) प्रतिष्ठापन।

दश धर्म – (१) क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) शौच (५) सत्य (६) संयम (७) तप (८) त्याग (९) आकिञ्चन्य (१०) ब्रह्मचर्य।

बारह भावनाएँ – (१) अध्रुव (अनित्य) (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचि (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) लोक (११) बोधिदुर्लभ (१२) धर्म।

बाईस परीषह जय – (१) क्षुधा (२) तृषा (३) शीत (४) उष्ण (५) नग्न (६) याचना (७) अरति (८) अलाभ (९) दंशमशक (१०) आक्रोश (११) रोग (१२) मल (१३) तृण (१४) अज्ञान (१५) अदर्शन (१६) प्रज्ञा (१७) सत्कारपुरस्कार (१८) शय्या (१९) चर्या (२०) वध (२१) निषधा (२२) स्त्री। इन बाईस परिषहों को जीतना परीषह जय है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १९८

[2] वही, श्लोक १९९

[3] वही, श्लोक २००

विविध विचार

इस प्रकार श्रावक के आचरण का वर्णन करते हुए आपने यत्र-तत्र वक्ता, श्रोता, उपदेश का क्रम आदि विविध विषयों पर भी अपने विचार प्रस्तुत कृति में प्रस्तुत किए हैं। जो संक्षेप में निम्न हैं :–

रत्नत्रय बंध का कारण नहीं

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को रत्नत्रय कहते हैं। 'रत्नत्रय बंध का कारण नहीं वरन् मुक्ति का ही कारण है' तथा 'रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है' – यह अनेकों प्रश्नोत्तरों द्वारा सिद्ध किया गया है।

योग और कषायों को बंध का कारण बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन दोनों से रहित होने के कारण बंध के कारण नहीं हैं। इनकी अंशतः प्राप्ति भी बंध के अभाव का कारण है। इस प्रकार योग और कषाय का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अभाव प्रदर्शित करते हुए उन्हें क्रमशः आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मस्थिरतारूप बतलाया है।

बंध के अभाव का कारण होते हुए भी रत्नत्रय को बंध का कारण क्यों कहते हैं? इसे उदाहरणों द्वारा विवेचित करने के उपरान्त रत्नत्रय को मुक्ति का ही कारण कहा है और पुण्यबंध को शुभोपयोगरूप अपराध का फल कहा है।

'रत्नत्रय तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृतियों के बंध का हेतु है' इसका निषेध करने के उपरान्त पुनः रत्नत्रय को मोक्षमार्ग वर्णित कर इनके द्वारा निराकुल सुख की प्राप्ति होती है, यह कहा गया है।

जैनीनीति

वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाली अनेकान्त – स्याद्वादमयी जैनी नीति की उपमा दही की मथानी की रस्सी को खेंचने वाली ग्वालिनी से देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

जिनेन्द्रदेव की स्याद्वादनीति वस्तु के स्वरूप को द्रव्यार्थिकनय से खेंचती है और पर्यायार्थिकनय से शिथिल करती है।[1]

---

[1] पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक २२५

यह नयचक्र दु:साध्य एवं अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला है। अत: चातुर्यरहित मिथ्याज्ञानी व्यक्ति द्वारा धारण करने पर यह धारण करने वाले के मस्तक को ही काट देता है।[1]

इसके द्वारा आगम में प्रतिभासित होने वाला विरोध समाप्त हो जाता है। यह जैनसिद्धान्त का बीज है, मूल है। इसका महत्त्व तो इसी से ज्ञात होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण में इसे भी स्मरण कर नमस्कार किया है।

निश्चय-व्यवहारनय – निश्चयनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के सत्य (शुद्ध) स्वरूप का उद्घाटन करता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; क्योंकि वह वस्तु के असत्य (संयोगी) स्वरूप का कथन करता है। प्रस्तुत कृति में कहा गया है :–

'निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्' ।।५।।

यही भाव समयसार की ग्यारहवीं गाथा में वर्णित है :–

'ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।'

सत्यार्थ होने के कारण निश्चयनय उपादेय है और असत्यार्थ होने के कारण व्यवहारनय हेय है। पर दोनों के सही स्वरूप से अनभिज्ञ अज्ञानीजन व्यवहार को ही निश्चय समझ व्यवहार को ही उपादेय मान लेते हैं। जिस प्रकार मलेच्छ को मलेच्छ भाषा के बिना समझाना संभव नहीं है; उसी प्रकार अज्ञानी जीवों को व्यवहारनय के बिना निश्चयनय को समझाया नहीं जा सकता, अत: अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए हेय होने पर भी व्यवहारनय से उपदेश दिया जाता है।

यही समयसार गाथा ८ में कहा गया है :–

जह णा वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।

यद्यपि व्यवहार की उक्त उपयोगिता है तथापि यदि निश्चय को न जानने वाला व्यक्ति व्यवहार को ही निश्चय मान ले तो उसके लिए यह उपदेश नहीं। जैसे – जिसने शेर को नहीं जाना है उसे

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९

बिल्ली के माध्यम से शेर को समझाया जाता है; किन्तु यदि बिल्ली के माध्यम से समझाये जाने पर वह बिल्ली को ही शेर मान ले तो वह गल्ती ही करेगा। उसी प्रकार व्यवहार के द्वारा निश्चय का प्रतिपादन किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति व्यवहार के द्वारा प्रतिपादन किए जाने पर व्यवहार को ही निश्चय मान ले तो वह वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं समझ सकेगा।

वक्ता-श्रोता – निश्चय और व्यवहार का ज्ञान वक्ता में अवश्य होना चाहिए। न केवल वक्ता में वरन् इसकी आवश्यकता श्रोता में भी है। यदि कोई व्यक्ति निश्चय-व्यवहार का ज्ञाता नहीं है तो वह तो श्रोता होने के भी योग्य नहीं है। वक्ता होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

अन्य गुणों का प्रदर्शन करते हुए प्रस्तुत कृति में कहा गया है :–

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ।।७४।।

अष्टमूलगुणों का धारण करने वाला ही उपदेश योग्य है।

ये समस्त गुण अल्परूप में श्रोता में तथा विशेषरूप में वक्ता में होने चाहिएँ।

वदन्तिजिनाः', जिनप्रवचनज्ञाः आदि उल्लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र के विचार यद्यपि परम्परागत ही हैं, तथापि उनके ग्रन्थों में उनका मौलिक चिन्तन सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। विशेषकर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में अभिव्यक्त अहिंसा-हिंसा संबंधी गहन, सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन अन्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। ●

चतुर्थ अध्याय

भाषा-शैली

जैन सिद्धान्तों के मर्मज्ञ आचार्य अमृतचन्द्र का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। संस्कृत के सरल, सहज-बोधगम्य तथा लम्बे-लम्बे समस्त पद—दोनों ही रूपों का दिग्दर्शन उनकी कृतियों में होता है। भाषा अनुचरी के समान उनका अनुसरण करती है। गद्य और पद्य दोनों पर ही इनका समान अधिकार था। इनके द्वारा रचित टीकाग्रंथ पद्यमिश्रित गद्य में व मौलिक ग्रंथ पद्य में ही हैं। मौलिक ग्रंथों में जहाँ संस्कृत का सरल रूप प्रतिबिम्बित है वहाँ ही टीका ग्रन्थों में प्रौढ़ भाषा दृष्टिगोचर होती है। इसप्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा दो रूपों में उपलब्ध होती है :—

(१) टीका ग्रन्थों की भाषा

(२) मौलिक लेखन की भाषा

कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत भाषा में निबद्ध दार्शनिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थों पर आपने संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखी हैं। इनमें प्रधानता तो गद्य कीही है पर साथ-ही-साथ पद्य भी उपलब्ध होते हैं। समयसार की टीका आत्मख्याति में वर्णित पद्य-भाग तो इतना महत्त्वपूर्ण है कि उस पद्य-भाग को अलग एकत्रित करके 'समयसार कलश' व 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नाम से अभिहित किया जाता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पद्य में है और तत्त्वार्थसार जो कि न तो टीका ग्रंथ है और न ही पूर्णतः मौलिक, वह भी पद्य में उपनिबद्ध है। इसमें कुल ७१८ छन्द हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने मात्र मूल ग्रंथों की टीका ही नहीं की वरन् उनमें उनका मौलिक चिन्तन भी समाविष्ट है, जिसमें वे एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में उभरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं।

टीका ग्रंथों में पद्यों की सर्वाधिक संख्या आत्मख्याति में है। इसमें २७८ पद्य हैं जो कि उनके मौलिक ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से भी ५२ अधिक हैं।

आचार्य महोदय जिसे महत्त्व देना चाहते हैं, जो विषय उनकी दृष्टि में मुख्य है; उसकी व्याख्या करते समय स्वयं के भी मौलिक विचार पद्यों में सम्मिलित कर देते हैं। ये पद्य प्रायः ग्रन्थ के आदि और अन्त में तथा अध्याय के आदि और अन्त में पाए जाते हैं, किन्तु समयसार टीका आत्मख्याति में मध्य में भी बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। मध्य में श्लोक देने में कोई क्रम नहीं है। गाथा की विषय-वस्तु के अनुसार किसी गाथा के अनन्तर अनेक श्लोक दे दिए गए हैं तो किन्हीं गाथाओं के पश्चात् दिए ही नहीं गए हैं। जैसे – समयसार की ८०वीं गाथा से ८५वीं गाथा तक एक भी श्लोक नहीं है तो ८६वीं गाथा के बाद ६ श्लोक दिए गए हैं, पुनश्च ८७ से ९६ गाथा तक एक भी श्लोक नहीं है और ९७ के बाद पुनः ६ श्लोक हैं। इसी प्रकार ३८९वीं गाथा के बाद १० श्लोक हैं तो ३९० से ४०४ तक एक भी नहीं – इसी प्रकार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। गाथाओं की टीका करने के पश्चात् भी आचार्य अमृतचन्द्र ने ३२ श्लोकों में स्याद्वाद व साध्य-साधक के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं।

'तत्त्वदीपिका' में कुल २२ श्लोक हैं। जिनमें प्रायः श्लोक अध्याय के आदि और अन्त में ही दिए गए हैं। परन्तु कुछ अपवाद भी हैं। जैसे – चरणानुयोगसूचक चूलिका के आचरणप्रज्ञापन में एक श्लोक प्रारंभ में व एक श्लोक मध्य में भी दिया गया है।

'मोक्षमार्गप्रज्ञापन' में श्लोक एकदम अन्त में न देकर एक-दो गाथा के पूर्व में ही दे दिए गए हैं। इसी प्रकार 'पंचरत्नप्रज्ञापन' के प्रारम्भ में एक श्लोक दिया गया है, पर अन्त में श्लोक नहीं है।

इस प्रकार श्लोक देने के क्रम में ही नहीं, श्लोकों की संख्या में भी अन्तर है। कहीं ४-५ श्लोक एक साथ दे दिए गए हैं तो कहीं एक

से ही काम चला लिया है। जैसे – 'ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन' के अन्त में २ श्लोक हैं तो 'ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन' के अन्त में ३; परिशिष्ट में ४ श्लोक दिए गए हैं तो 'पंचरत्नप्रज्ञापन' के अन्त में दिया ही नहीं गया है।

'समयव्याख्या' में तो कुल ८ ही श्लोक हैं। जिनमें ६ तो प्रारंभ में व एक ग्रन्थ के अन्त में है। तथा एक श्लोक 'मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन' के प्रारंभ में है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि लेखक जिसे महत्त्व देना चाहता है उसके पश्चात् कुछ श्लोक भी स्व-विचारों को प्रगट करने हेतु दे देता है। श्लोकों की संख्या भी विषय की गहनता, सूक्ष्मता व महत्त्व के अनुसार होती है।

आपकी गद्यशैली सरल तो नहीं पर जटिल, क्लेश उत्पन्न करने वाली भी नही हैं। आपकी शैली में असंयत समासान्त पदावली, जटिल दीर्घवाक्य, विकट श्लेष-योजना और निरर्थक वर्णाडम्बर नहीं मिलता है। आपकी शैली अनलंकृत नहीं वरन् सबल, संयत है। वह किनारों को तोड़ने वाली नदी के समान असंयत नहीं है और न ही विन्ध्याटवी के समान भ्रम उत्पन्न करने वाली है। जैसे – "ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्यं पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्। किंच यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम् ? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किं वास्रवेभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।"[१]

इस प्रकार इनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से दबा है, न समासों के प्रहार से प्रताड़ित, न ही अलंकार बाहुल्य से आक्रान्त है। उनका पदलालित्य दर्शनीय है। पदसंचयन, पदयोजना और सौन्दर्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

---

[१] आत्मख्याति, गाथा ७२ की टीका

शब्द विन्यास का सौष्ठव, अलंकारों की सुगमता, समस्त पदों की प्रयोग चातुरी, वाक्यों का संहित विस्तार आपके गद्य की अन्यतम विशेषताएँ हैं। उदाहरण के तौर पर :–

"अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति।.....तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम्। वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः।"[1]

इस प्रकार समासों के मध्य में लघुतर वाक्यों का प्रयोग भाषा को प्रभावोत्पादक बना गया है।

एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना में भी आप सिद्धहस्त हैं। निम्नांश उनकी इस शैली का ज्वलंत उदाहरण है :–

"यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः, नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापा-

[1] आत्मख्याति, गाथा १३ की टीका

स्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैक-ज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः, चिन्मात्रतया सामान्य-विशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्ण-निमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्पर-मार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि वर्ण्य-विषय की स्थिति के अनुकूल दीर्घकाय और लघुकाय वाक्यों का प्रयोग है।

'जले जंबालवत्'[2], 'समुद्रावर्त इव'[3], 'जतुपादपवत्'[4], 'घटमृत्ति-कयोरिव'[5] इत्यादि उदाहरणों द्वारा स्थल-स्थल पर दुरूह विषय को स्पष्ट किया गया है।

इनके पद्यों की भाषा नदी के समान प्रवाहशीला, सरस, सरल एवं मनोहारिणी है। स्पष्टता, सुबोधता, मधुरता और प्राञ्जलता पदे-पदे दर्शनीय है। अर्थस्पष्टता, भावाभिव्यक्ति, अमृतचन्द्राचार्य की कृतियों की अप्रतिम विशेषतायें हैं। शैली अत्यन्त सशक्त, विकसित एवं परिष्कृत है। शब्दों का रसानुकूल मधुर प्रयोग है। आपकी कृतियाँ रचनादोषों से मुक्त, श्रुतिकटुता से रहित हैं। वाक्य-विन्यास आयास-जनक नहीं है। अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्द-विन्यास चारुता आपकी शैली के विशेष गुण हैं।

'गागर में सागर' अर्थात् अल्प शब्दों में अनल्प भाव भरना तो आपके स्वभाव में ही बसा हुआ है। आपको जो कुछ भी कहना है वह सब तो आप ग्रन्थ के नामकरण में ही कह देते हैं। जैसे – 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय', बस सभी कुछ इसी के इर्द-गिर्द मंडराता है। उन्हें न तो 'पुरुष' का अर्थ बताना है, न ही उसका 'अर्थ' समझाना है; बस उन्होंने तो 'पुरुषार्थ' (पुरुष के उद्देश्य) की सिद्धि के उपाय को बताना अपना ध्येय बनाया है जो कि पुरुषार्थ द्वारा ही संभव है।

---

[1] आत्मख्याति, गाथा ३८ की टीका

[2] वही, गाथा ७२ की टीका

[3] वही, गाथा ७३ की टीका

[4] वही, गाथा ७४ की टीका

[5] वही, गाथा ७५ की टीका

लेखक अपने आसपास के वातावरण, पाठकों की बौद्धिक क्षमता और विषय की निस्सीमता से परिचित हैं। इसीलिए वे विषय को संक्षेप में सरल, सहज, बोधगम्य, उदाहरणमयी भाषा में पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं।

आलोच्यकृति में उनका उद्देश्य देशचारित्र का वर्णन करना है, अतः एकदेश त्याग का विवेचन ही मुख्य है। इस विवेचन को देख कोई एकदेश त्याग को ही अपना ध्येय न बना ले, यह विचारकर वे स्थल-स्थल पर सचेत करते हैं कि यद्यपि पापों का त्याग तो पूर्णतः ही उचित है पर पूर्ण त्याग करने में असमर्थ हो तो शक्ति अनुसार त्याग अवश्य करना चाहिए। स्थावर जीवों की हिंसा को छोड़ने में असमर्थ जीव को त्रसहिंसा को छोड़ने का उपदेश देते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कहा गया है :–

'धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७६॥

वस्तु को स्पष्ट करने के लिए वे विविध शैलियों का प्रयोग करते हैं। कहीं प्रश्नोत्तरों के रूप में विषय को स्पष्ट करते हैं तो कहीं विविध तर्कों द्वारा तथ्यों को सिद्ध करते हैं। जैसे – समीक्ष्यकृति में 'रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है' इसके अनेक प्रश्न उठाकर स्वयं ही समाधान किया गया है। इसी प्रकार उपवासधारी पुरुष के अनेक हेतुओं के द्वारा अहिंसा की सिद्धि करने के पश्चात् सत्यादि व्रतों को भी उसके (उपवासधारी पुरुष के) सिद्ध करते हुए कहते हैं :–

'वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृतं न समस्तदानविरहितः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्दस्य ॥१५६॥

इसी प्रकार 'परजीवों का प्राणपीड़न हिंसा है' इस परिभाषा में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों को बताकर इसे सदोष सिद्ध करते हुए 'मोह-राग-द्वेष भावों की आत्मा में उत्पत्ति ही हिंसा है' यह परिभाषा सिद्ध की है।

प्रस्तुतीकरण जिज्ञासोत्पादक है। पूर्व श्लोक अग्रिम श्लोक की भूमिका तैयार कर जाता है।

आलोच्य कृति में अतिथिसंविभागव्रत का वर्णन करते हुए कहा है:–

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय ।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ।।१६७।।

इस श्लोक को प्रस्तुत कर दान की विधि, दाता के गुण, देयवस्तुएँ और उत्तम पात्र के बारे में सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न कराते हुए अग्रिम श्लोकों की भूमिका प्रस्तुत कर दी है ।

इनका वर्णन-प्रवाह विषयान्तरों से आक्रान्त नहीं है । शरीरानुसार अवयव कल्पना अर्थात् सानुपातिक अंगोपचय शैली की नींव होती है । इस तथ्य का प्रस्तुत कृति में पूर्ण ध्यान रखा गया है । विषय की आवश्यकतानुसार ही कहीं वर्णन विस्तार है तो कहीं-कहीं विषय को संक्षेप में समेट लिया है । जैसे – समीक्ष्य कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सकलचारित्र का संक्षेप में वर्णन है । उनके भेद-प्रभेदों का नाम निर्देश मात्र कर दिया गया है, पर देशचारित्र का विस्तार से विवेचन है । उसके प्रत्येक पहलू को स्पर्श किया गया है, अनेक दृष्टियों से उस पर विचार किया गया है।

अपने वर्णनों को उन्होंने इस प्रकार क्रमबद्ध किया है कि वे सर्वथा सुसंगठित होकर खिल उठे हैं । ये वर्णन इतने स्पष्ट व विशद् हैं कि पाठक के हृदय को एकदम प्रभावित किए बिना नहीं रहते । पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा के प्रकरण में भावहिंसा व द्रव्यहिंसा का अन्तर-प्रदर्शन इसका ज्वलंत उदाहरण है ।

अज्ञानीजन हिंसा को अहिंसा किन-किन रूपों में प्रस्तुत करते हैं; इसका जो विशद् विवेचन उन्होंने किया है वह उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचायक है । इस वर्णन की यथार्थता तो इसी से प्रमाणित होती है कि इस तरह के कुतर्कवादी हमें आज भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

ध्वनिसामञ्जस्य पद-पद पर प्रगट हुआ है । भाषा और भाव, शब्द और अर्थ – दोनों का उचित सम्मिलन इनके गद्य-पद्य दोनों में हुआ है । शब्दों के यथोचित, यथास्थान और सन्निवेशानुकूल संचयन करने में अमृतचन्द्राचार्य निष्णात हैं । अवसरानुकूल शब्दों के प्रयोग द्वारा ही आप अपने अभिमत को पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं । जैसे- 'बिल्ली' के लिए 'उन्दुरुरिपु'[1] शब्द का प्रयोग कर वे यह ध्वनित

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२०

कर देते हैं कि बिल्ली यहाँ मांसाहारी पशुओं का प्रतिनिधित्व कर रही है और श्लोक १९३वें में 'दुष्पक्व' कहकर कम पकी व अधिक पकी दोनों को ही एक शब्द में प्रगट कर दिया है।

भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। एक ही शब्द के लिए आप अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे–रात्रि के लिए रजनी, निशा, त्रियामा; शीघ्रता के लिए अचिरेण, अचिरात्, सपदि; निरंतर के लिए सातत्येन, सततं, अनिशं; सम्पूर्ण के लिए अखिल, अशेष, सकल, कात्स्न्यं; त्याग के लिए अपनीय, अपहाय, त्याज्य आदि।

इनकी कृतियों में कहीं अनेक अप्रचलित शब्दों – जैसे सरक (मदिरा), पाटन (मोहल्ला), मोट्टन (उखाड़ना), अभिषव (कामोद्दीपक) आदि का प्रयोग किया गया है तो कहीं पर अनेक प्रचलित शब्दों का अप्रचलित अर्थों में प्रयोग मिलता है। वेग अर्थ में प्रचलित 'रभस' उत्सुकता अर्थ में, सोने के अर्थ में प्रचलित 'हिरण्य' चांदी अर्थ में, प्रसिद्धि के अर्थ में प्रचलित 'प्रसिद्ध' सिद्धि के अर्थ में, सन्देह अर्थ में प्रचलित 'विचिकित्सा' ग्लानि के अर्थ में प्रयोग दृष्टव्य हैं।

इसी प्रकार अनेक ऐसे शब्दों का प्रयोग भी है जो संस्कृत साहित्य की दृष्टि से अप्रचलित हैं। जैसे – देशना (उपदेश), प्रासुक (जीवरहित), संग (परिग्रह), अनुपस्थान (भुलाना) आदि।

आपको व्याकरण का सूक्ष्म ज्ञान था। आपके द्वारा प्रयुक्त सभी प्रचलित-अप्रचलित प्रयोग व्याकरण-सम्मत हैं।

विषय को स्पष्ट करने के लिए आपने उदाहरणों का प्रयोग किया है। जैसे–ममत्व परिणामों के हीनाधिक भाव को समझाने के लिए बिल्ली और मृगशावक का उदाहरण दिया गया है।[1] इसी विषय को पुनः दूध और चीनी[2] के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इस प्रकार अनेकों उदाहरणों द्वारा विवेचित विषय को पाठक सहज ही हृदयंगम कर लेते हैं। विषय को समझने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता है।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक १२०, १२१

[2] वही, श्लोक १२२, १२३

विवेचित विषय को पूर्णरूपेण स्पष्ट किए बिना वे आगे नहीं बढ़ते हैं। प्रत्येक संभव शंकाओं का निवारण करते हुए विषय को स्पष्ट करना उनकी अनुपम विशेषता है। मद्य, मधु, मांस के प्रकरण में, रात्रिभोजन त्याग के प्रकरण में जहाँ कहीं भी दृष्टि डालिए विषय को विवेचित करने का उनका यही रूप दृष्टिगोचर होता है।

इह, हि, तु, च, वा, ननु, किल, किमु, यथा, तथा, यदा, तदा, अपि, खलु, एव, इति आदि अव्ययों का प्रयोग कभी पादपूरणार्थ तो कभी विशिष्ट अर्थों में किया गया है। जैसे – 'अपि' निश्चय अर्थ में आदि।

औचित्य का अतिक्रमण इनकी कृतियों में कहीं नहीं हुआ है। दार्शनिक तत्त्वों को प्रसादपूर्ण भाषा में समझाया गया है। ग्रन्थों में भाषा का माधुर्य और भावों का सौन्दर्य अनुपम है।

छन्द – अमृतचन्द्राचार्य के ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनका संस्कृत भाषा पर वित्तद्वापूर्ण अधिकार था। न केवल अप्रचलित शब्दों का ही वरन् अप्रचलित छन्दों का प्रयोग भी आपके साहित्य में देखने को मिलता है। आप छन्दों के प्रयोग में प्रवीण हैं। जहाँ आपने भावानुसार छन्दों का संयोजन किया है वहाँ ही छन्दानुसार शब्दों के चयन का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है–इन दोनों के सम्मिलन से भाषा प्रवाहमयी होने के साथ-साथ प्रभावशाली भी हो गई है। ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण के लिए क्रमशः शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका और मन्दाक्रान्ता छन्दों का प्रयोग किया गया है।

आपने कुल मिलाकर १९ छन्दों का प्रयोग किया है। सर्वाधिक संख्या अनुष्टुप् छन्द की है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि यही इनका प्रिय छन्द हो; क्योंकि जहाँ सम्पूर्ण तत्त्वार्थसार में कुछ छन्दों को छोड़कर 'अनुष्टुप्' का प्रयोग है, वहाँ ही पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'आर्या' छन्द ही प्रयुक्त है।

इस प्रकार जहाँ सरल-सहज बोधगम्य छन्दों में इन दो ग्रंथों की रचना की गई है, वहीं टीकाग्रन्थों में विद्यमान पद्यों में दीर्घकाय 'शादूलविक्रीड़ित' छन्द की प्रधानता है। जैसे – 'आत्मख्याति' के २७८ छन्दों में ७० छन्द शार्दूलविक्रीड़ित के हैं व शेष में १८ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं। 'तत्त्वदीपिका' के २२ पद्यों में ६ इसी छन्द में हैं।

'आत्मख्याति' में द्वितीय स्थान 'अनुष्टुप्' को प्राप्त है। इसमें ४८ पद्य अनुष्टुप् में हैं। 'समयव्याख्या' के कुल ८ में से ६ छन्द अनुष्टुप् हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय को छोड़कर शेष ग्रंथों का मंगलाचरण भी इसी छन्द में है। 'तत्त्वदीपिका' में ३ छन्द अनुष्टुप् हैं।

'समयव्याख्या' में शेष २ छन्द उपजाति हैं। 'आत्मख्याति' में ३४ पद्यों में निबद्ध हो यह छन्द तृतीय स्थान पाने में कामयाब हो गया है। परन्तु 'तत्त्वदीपिका' को यह स्पर्श नहीं कर सका है।

'तत्त्वदीपिका' के शेष १३ पद्यों में ३ छन्द वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता व शालिनी में हैं तो एक-एक पद्य मालिनी, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा और आर्या में ग्रथित हैं।

'आत्मख्याति' में प्रयुक्त शेष १२६ पद्यों में १६ छन्दों का प्रयोग किया गया है। संख्यानुसार छन्दों के नाम निम्नप्रकार हैं :–

वसन्ततिलका (२५), मालिनी (२३), मन्दक्रान्ता (१९), आर्या (१२), स्वागता (८), पृथ्वी (८), रथोद्धता (७), शिखरणी (४), शालिनी (४), स्रग्धरा (३), द्रुतविलम्बित (३), इन्द्रवज्रा (२), उपेन्द्रवज्रा (१), वंशस्थ (१), वियोगिनी (१) और नर्दटक (१)।

इस प्रकार इन्होंने 'आत्मख्याति' में ही १९ छन्दों का प्रयोग किया है। शेष ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्द इन्हीं १९ छन्दों में समाहित हो जाते हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'आर्या' का एकछत्र राज्य है तो तत्त्वार्थ-सार में 'अनुष्टुप्' ही छाया हुआ है। इस कृति में २ छन्द शालिनी, २ आर्या व एक वसन्ततिलका – इस तरह पाँच छन्दों को छोड़कर ७१५ श्लोक अनुष्टुप् में ही हैं।

इन १९ छन्दों में नर्दटक व स्वागता अप्रचलित छन्द हैं। नर्दटक १७ वर्णों का छन्द है जो कि 'समयसार कलश' के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में १९वें कलश में प्रयुक्त है :–

'ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिदह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ आपका मन विशालकाय शार्दूलविक्रीड़ित जैसे छन्दों में रमा है वहाँ ही अनुष्टुप् और आर्या जैसे लघुकाय छंदों का भी आपने खुलकर प्रयोग किया है। छन्दों के दोनों रूपों के प्रयोग में आप सिद्धहस्त हैं। विषय की गंभीरता, गहनता की दृष्टि से आपने छन्दों का चयन किया है। सर्वत्र छन्द-विधान रसानुकूल है।

रस – चूँकि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रतिपाद्य अध्यात्म रहा है, अतः उनके काव्य में शांत रस का ही प्रमुख रूप से परिपाक हुआ है; किन्तु इसके सहायक के रूप में अन्य रसों को भी यथोचित स्थान प्राप्त है। द्वितीय स्थान वीर रस को प्राप्त है, अद्‌भुत रस का भी दर्शन होता है। शृङ्गार-हास्यादि रसों का अभाव-सा ही है।

अलंकार – अलंकारों के प्रयोग में भी आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी सूक्ष्म मर्मज्ञता का परिचय दिया है। आप आध्यात्मिक लेखक एवं विचारक थे, अतः काव्यकौशल का प्रदर्शन आपका उद्देश्य न होकर अध्यात्म का प्रचार-प्रसार ही आपका ध्येय था। इसलिए आप में अलंकारों एवं अक्षराडम्बरों से अपने काव्य को बोझिल बनाने की प्रवृत्ति का अभाव होना स्वाभाविक था, फिर भी प्रतिपाद्य विषय को प्रतिपादित करते हुए आपकी कृतियों में अलंकारों का समावेश स्वतः हो गया है। वातावरण की अनुकूलता व प्रासंगिकता के बल पर इनका प्रयोग सहज होने से वर्ण्य-विषय मानस पटल पर अमिट चित्र अंकित कर जाता है। जैसे :–

'झटितिघटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्' ।।८८।।

आर्या, अनुष्टुप् छन्दों में रचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय व तत्त्वार्थसार में अनुप्रास, यमक, रूपक, उपमा अर्थान्तरन्यास अलंकारों का प्रयोग सहज हो गया है। श्लेष का प्रयोग इन कृतियों में आपने नहीं किया है क्योंकि श्लेष के प्रयोग से काव्य में क्लिष्टता आ जाती है, अतः उससे रसभंग होता है। अनुप्रास आदि का एक-एक उदाहरण क्रमशः द्रष्टव्य है :–

अनुप्रास – 'अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेनं।[1]

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ६०

यमक – 'निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्' ।[1]

रूपक – 'अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा' ।[2]

उपमा–'परिधय इव नगराणि व्रतानि किलपालयन्ति शीलानि' ।[3]

अर्थान्तरन्यास–निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्पखण्डयोरिह माधुर्य्यप्रीतिभेद इव' ।।[4]

अनुप्रास, उपमा, रूपक, व्यतिरेक इन चारों का एक साथ प्रयोग शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में उपनिबद्ध आत्मख्याति के २७६वें कलश में दृष्टव्य है :–

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म –
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता –
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ।।

यहाँ पर ज्ञान को अमृतचंद्रज्योति कहा है अतः 'लुप्तोपमा' अलंकार है, क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत्ज्योतिः' का समास करने पर 'वत्' का लोप होकर 'अमृतचन्द्रज्योतिः' रहा ।

यदि 'वत्' का प्रयोग न कर 'अमृतचन्द्ररूपज्योति' अर्थ किया जाए तो 'भेदरूपक' अलंकार होता है और 'अमृतचंद्रज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाए तो 'अभेदरूपक' अलंकार होता है ।

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, यहाँ कहे गए विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ 'व्यतिरेक' भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकार का दूर होना बतलाता है, 'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है, 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से अच्छा दिन न होना बतलाता है, और 'समंतात् ज्वलतु' सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में प्रकाश करना बतलाता है; चन्द्रमा ऐसा नहीं है। अतः 'व्यतिरेक' अलंकार भी हुआ ।

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ११०

[2] वही, श्लोक ७८

[3] वही, श्लोक १३६

[4] वही, श्लोक १२२

अनुप्रास तो स्पष्ट दिखाई देता ही है।

⊠

इस प्रकार इनके गद्यांश व पद्यांश दोनों ही ललित एवं समान रूप से परिष्कृत हैं। दोनों का ही निबन्धन सचेत होकर किया गया है। ललितपदविन्यास के माधुर्य से तथा क्लिष्टता और कृत्रिमता के सर्वथा परिहार से अमृतचन्द्राचार्य की रचनाएँ स्वाभाविक एवं सहज सुन्दर हैं। सर्वत्र सरल, सुबोध एवं प्रसादयुक्त हैं। सहज भावाभिव्यक्ति और अर्थ की स्पष्टता उनकी शैली की विशेषता है। आपकी कृतियों में संस्कृत काव्य शैली का चारुतम रूप प्रस्फुटित हुआ है। रसानुकूल विविध छन्दों के प्रयोग एवं सहज समागत अलंकारों के प्रयोग से भावपक्ष पूरी तरह उभरकर आया है। यद्यपि कलापक्ष किसी भी स्थिति में कमजोर नहीं है तथापि वह भावपक्ष पर हावी नहीं हो पाया है।

आपका साहित्य आध्यात्मिक है, अतः उसका अनलंकृत रहना स्वाभाविक है। अधिक अलंकारों से लदी फूहड़ ग्रामवधू के समान न होकर सभ्य सुसंकृत आत्मभाव से शोभित आध्यात्मिकरुचि संपन्न नारी के समान आपका साहित्य भी परिष्कृत है। ●

पंचम अध्याय

उपसंहार

आचार्य अमृतचंद्र मुख्यरूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। विचार उनकी अनुभूति का अंग है, लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हें तर्क से विरत नहीं करती। वे जिस बात पर विचार करते हैं तर्क उसकी पहली सीढ़ी है।

उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। वे तत्त्वों का ही नहीं, उसके प्रवर्त्तक और ग्रहणकर्त्ता की योग्यता-अयोग्यता का भी तर्क की कसौटी पर विचार करते हैं। तत्त्वज्ञान को ग्रहण करने के लिए उन्होंने कुछ योग्यताएँ मानी हैं।

अनुभूति और तर्क के साथ उन्होंने आगम प्रमाण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। वे स्वयं स्थल-स्थल पर आगम प्रमाण देते हैं।

न केवल यही वरन् ग्रन्थ के प्रारंभ में ही वह कह देते हैं कि यह ग्रन्थ कपोल-कल्पित अथवा मेरी बुद्धि का विलास नहीं, वरन् यह आगमाश्रित है जिसे मैं ग्रन्थों का अध्ययन कर, विचार कर सारूप में कह रहा हूँ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष, तर्क, आगम सभी का उचित सम्मिलन इनकी कृतियों में विद्यमान है।

समीक्ष्य कृति का उद्देश्य पुरुषार्थ की सिद्धि के हेतुभूत रत्नत्रयों में सम्यक्चारित्र का विवेचन है। चारित्र में भी श्रावक के आचरण योग्य देशचारित्र का प्रख्यापन इनका ध्येय है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र भी सम्यक् नहीं होता, अतः पूर्वभाग में इनका वर्णन संक्षेप में किया गया है तथा 'सकलचारित्र का पालन भी श्रावक को शक्ति अनुसार करना चाहिए', इस दृष्टि से अंत में सकलचारित्र का वर्णन नाम मात्र ही है।

देशचारित्र का वर्णन करते हुए हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह – पापों का वर्णन है क्योंकि इनके पूर्णतः त्याग को महाव्रत और एकदेश त्याग को अणुव्रत अर्थात् देशचारित्र कहते हैं।

उपर्युक्त पांच पापों में हिंसा का विवेचन सर्वाधिक है। शेष असत्यादि चारों पापों को हिंसारूप ही बतलाया है और उनके त्याग का फल भी अहिंसारूप सिद्ध किया है। न केवल इनके त्याग में वरन् दिग्व्रतादि तीन गुणव्रतों, सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों और सल्लेखना के पालन का फल भी परिपूर्ण अहिंसा बतलाया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में तो सर्वत्र ही अहिंसा दृष्टिगोचर होती है। इस में आचार्य अमृतचन्द्र ने अहिंसा का गहन, गंभीर, सूक्ष्म एवं विस्तृत व्याख्यान किया है। अहिंसा तो पूरे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर छाई हुई है। यही प्रस्तुत कृति में हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करती है। इसमें अवगाहन करते हुए अतीव आनन्द का अनुभव होता है। एक बार जब अहिंसा का वर्णन पढ़ना प्रारंभ कर देते हैं तो फिर उसे मध्य में छोड़ने की इच्छा नहीं होती। जिस प्रकार कोई रसिक गानमंजरी श्रवण करते समय मुग्ध हो जाता है, वैसे ही अध्यात्मरसिक इस पर मुग्ध हो उठते हैं। वस्तुतः अपूर्व शैली में वर्णित अहिंसा अपूर्व ही है। हिंसा-अहिंसा की विचित्रता हमें चित्रलिखित-सी कर देती है, मन-मयूर नाचने लगता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में वर्णित हिंसा के वर्णन के प्रसंग में तत्कालीन परिस्थितियों में धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का चित्र भी उपस्थित होता है अर्थात् उस समय उनके आस-पास के क्षेत्रकाल में धर्म के नाम पर इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ मौजूद थीं – जिनमें यज्ञादि में पशुओं का होम, सिंहादि का शिकार व गुरु के मस्तक तक काट देने की हिंसक प्रवृत्ति को धर्म माना जाता था और धर्म के नाम पर इन सब महापापों में निःशंक प्रवृत्ति देखी जाती थी। दूसरी बात यह भी उजागर होती है कि ऐसे वातावरण में भी उन्होंने निर्भय होकर डंके की चोट अपना मत व्यक्त किया व धार्मिक हिंसा के विरुद्ध वातावरण बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

समीक्ष्य कृति में विशेष कर श्रावक धर्म का विशद चित्रण है जिससे आज आचरण में आई हुई विकृतियों का स्पष्ट अनुभव हो

जाता है। इस ग्रन्थ में बाह्य आचरण का जिस सूक्ष्मता से चित्रण किया गया है उसे पढ़कर अल्पज्ञान वाले भी आचरण-भ्रष्टता को अच्छी तरह पहिचान सकते हैं तथा वे अपनी कमजोरी को किस तरह दूर करें? कहाँ कमजोरी रह जाती है? – आदि बातों का ज्ञान कर स्वयं इन कमजोरियों से बच सकते हैं।

इसमें न केवल बाह्य आचारण का चित्रण है वरन् भावों की विचित्रता भी चित्रित है। प्रत्येक स्थल पर भावों की मुख्यता से कथन किया गया है। अहिंसा के वर्णन में यह बात स्पष्ट रूप से हस्तामल-कवत् दृष्टिगोचर होती है।

इस तरह भावों की मुख्यता के साथ बाह्य आचरण को भी विवेचित कर बाह्य आचरण द्वारा जहाँ सम्यक्चारित्र का वर्णन है वहाँ ही भावों में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का चित्रण है। चूँकि सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है, अतः चारित्र में भी भावों की प्रधानता रहती है। इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। जब ये तीनों अपनी परिपूर्ण दशा को प्राप्त करते हैं तब ही अविनाशी, निराकुल सुख की प्राप्ति होती है। यही 'पुरुष' अर्थात् आत्मा का 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन है। इसका ही इस ग्रन्थ में विशद चित्रण है। अतः 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नाम सार्थक है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्यग्दर्शन पर विशेष बल दिया है क्योंकि सम्यग्दर्शन हुए बिना चारित्र भी 'सम्यक्' नाम नहीं पाता है। सम्यग्दर्शन हुए बिना किया गया त्याग बन्ध का ही कारण होता है, बंध के अभाव का नहीं; जब कि सम्यग्दर्शनपूर्वक किया गया त्याग बंध के अभाव का कारण होता है। हमें बंध नहीं; बंध का अभाव करना है। बंध का अभाव ही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। इस प्रकार जितना महत्त्व पुरुषार्थ की सिद्धि में सम्यग्दर्शन का है, उससे कम सम्यक्चारित्र का नहीं; क्योंकि सम्यक्चारित्र की परिपूर्ण प्राप्ति द्वारा ही पुरुषार्थ की पूर्ण सिद्धि होती है।

चारित्र हिंसादि पापों के त्यागरूप और अहिंसादि व्रतों के ग्रहण रूप है, अतः प्रस्तुत कृति में त्याग पर सर्वत्र बल दिया गया है। परिपूर्ण त्याग को सर्वथा उपादेय मानते हुए परिपूर्ण त्याग की प्रेरणा दी गई है। पर यदि श्रावक परिपूर्ण त्याग करने में असमर्थ है तो

उसे शक्ति अनुसार त्याग तो अवश्य ही करना चाहिए। शक्ति के अनुसार त्याग करने में एक विशेष क्रम का ध्यान रखना चाहिए। इस त्याग का क्रम बताते हुए वे कहते हैं कि पूर्व में तो शक्य पदार्थों का त्याग करे। शक्य पदार्थ क्या हैं ? व क्या नहीं ? इसका विवेचन पाँचों पापों के त्याग के क्रम में किया गया है। साथ ही लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग करने को भी कहा गया है, क्योंकि लोकविरुद्ध कार्य करने में पाप अधिक होता हैं व फल कम मिलता है। लोकविरुद्ध कार्यों की प्रवृत्ति में राग की तीव्रता पाई जाती है, अनेक बाधाएँ होने से फल प्राप्ति भी न के बराबर ही होती है। कहा भी है :–

'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाकरणीयं।'

एक बात यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि उपर्युक्त कथन यहाँ मात्र लौकिकता की दृष्टि से ही किया गया है। मिथ्यात्व, सम्यक्त्व आदि के बारे में यह कथन लागू नहीं करना चाहिए।

त्याग करना इसलिए भी आवश्यक है कि त्याग किए बिना वस्तु का उपभोग न करने पर भी अविरमणरूप पाप लगता रहता है, क्योंकि हिंसादि पाँचों पापों में प्रधानता तो भावों की ही है। वस्तु का उपभोग न करना ही त्याग नहीं है वरन् वस्तु के उपभोग के प्रति राग के अभावपूर्वक त्याग होता है। वस्तु के उपभोग के राग की विद्यमानता में भी अनेक कारणों से वस्तु का उपभोग नहीं हो पाता। अतः वस्तु का अनुपभोग त्याग नहीं है।

क्रमभंग दोष आपकी कृतियों में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। आलोच्य कृति के वर्णन में सर्वत्र एक क्रम दृष्टिगोचर होता है।

सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान के वर्णन में सर्वप्रथम इन दोनों की विशेषताओं को बतलाते हुए इनके स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। फिर सम्यग्दर्शन को प्रथम क्यों कहा ? सम्यग्ज्ञान को बाद में क्यों कहा ? सहभावी होने पर भी इनमें कारण-कार्य सम्बन्ध कैसे संभव है ? तत्पश्चात् इनके भेदों का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है।

सम्यक्चारित्र में उपर्युक्त क्रम विद्यमान है। इसके भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है, इनका क्रम भी दर्शनीय है।

चारित्र में पाँचों पापों के वर्णन का सुनियोजित क्रमबद्ध विकास है। सर्वप्रथम सामान्यतः इनकी परिभाषा, भेद-प्रभेदों का वर्णन करते हुए त्याग करने की प्रेरणा दी गई है।

हिंसा के वर्णन में मध्य में हिंसा-अहिंसा का तुलनात्मक विवेचन भी किया गया है तथा अज्ञानी जनों द्वारा हिंसा को अहिंसा प्रतिपादित करने के कुतर्कों को भी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

असत्यादि शेष चारों पापों में परम्परा हिंसा का सद्भाव बतलाने के पश्चात् इनमें साक्षात् हिंसा भी सिद्ध की गई है। यही क्रम रात्रिभोजन में है।

सात शीलव्रतों व सल्लेखना के वर्णन में इनकी परिभाषा देने के अनन्तर इनके पालन करने के फल को बताया गया है। यथास्थान आवश्यकतानुसार प्रोषधोपवास, सल्लेखना आदि में विस्तार भी है और अंत में इन सभी के पालन में अहिंसादि व्रतों की परिपूर्णता दर्शाई गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र की प्रतिभा परिपक्व है और वर्णन-शक्ति उससे कहीं बढ़कर। उनकी गति गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में अबाध है। उनकी प्रतिभा का उन्मेष निराला और शास्त्रीय ज्ञान बढ़ा-चढ़ा है। आत्मानुभव व लौकिक अनुभवों के कारण उनकी बहुमुखी प्रतिभा मँज चुकी थी। कभी एक, कभी अनेक पद्यमिश्रित गद्य में लिखी गई उनकी टीकाओं में मणिकांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है।

जिन-अध्यात्म और संस्कृत भाषा का आपको सूक्ष्मज्ञान था। इन दोनों के मनोरम योग द्वारा आपकी कृतियाँ खिल उठी हैं।

आप साधारण शब्दों का असाधारण अर्थों में प्रयोग करते हैं व जितने भी प्रयोग किए हैं, वे सभी व्याकरण सम्मत हैं।

आप केवल अध्यात्मवेत्ता ही नहीं, न्याय-व्याकरण में भी आप की सूक्ष्म पकड़ है। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों के परिहार द्वारा लक्षणों की निर्दोषता सिद्धि से आपके न्यायशास्त्र के ज्ञान का ज्ञान होता है, तथा 'असिधेनु' आदि प्रयोग आपके व्याकरण विषयक ज्ञान को द्योतित करते हैं। जिस प्रकार तात्त्विक क्षेत्र में उनकी दृष्टि भेदक है उसी प्रकार वे काव्यशास्त्र के भी सूक्ष्म ज्ञाता हैं। इसीलिए

तो अप्रचलित छन्दों का भी सहज रूप में प्रयोग हो गया है। वे लोक सम्बन्धी वार्ताओं के भी ज्ञाता हैं। उनकी कृतियों के प्रतिपाद्य विषय द्वारा जहाँ उनके सैद्धान्तिक ज्ञान का ज्ञान होता है, वहाँ ही प्रतिपाद्य को समझाने के लिए दिए गए उदाहरणों द्वारा उनके बाह्य लौकिक अनुभव की विशालता व सूक्ष्मता भी हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है। उनकी प्रतिपादन शैली उनके अगाध पाण्डित्य का प्रमाण है।

आपके पद्यों की भाषा अत्यन्त सरल, प्रसादगुण और पदलालित्य मण्डित है। भाषा मंजी हुई, अदूषित है। शब्दविन्यास शुद्ध, वर्णन विशद, सजीव और सूक्ष्म हैं; जो सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के परिचायक हैं।

विषय और वर्णन के अनुसार अनुकूल छन्दों का प्रयोग किया गया है। छन्दों की योजना स्थल, वस्तु, विषय, भावना और विचार पर अवलम्बित है। जिस प्रकार संगीत में समय, भाव और विषय के अनुसार रागयोजना होती है; उसी प्रकार उत्पाद्यमान रस के अनुसार छन्दों का अनुरूप विधान रोचक होता है। अनुकूल छन्दों के सन्निवेश से सौन्दर्य, माधुर्य और रस की निष्पत्ति होती है। लेखक रसानुकूल छन्दों के सन्निवेश में पारंगत हैं; इसीलिए तो अप्रचलित, अव्यवहृत छन्दों का सन्निवेश भी आपकी कृतियों में हो गया है। भावानुसार छन्दों के प्रयोग ने ही तो १९ प्रकार के छन्दों का प्रयोग आपकी कृतियों में करा दिया है।

अलंकारों का प्रयोग तो इतना सहज, स्वाभाविक रीति से किया गया है कि वे वस्तुतः आपकी कृति के अलंकार हो गए हैं। ये अलंकार अलंकार्य को अनलंकृत नही वरन् अलंकृत ही करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सूक्ष्मद्रष्टा आत्मानुभवी संत थे। यद्यपि उन्हें काव्य, न्याय, व्याकरण आदि विषयों की सूक्ष्म पकड़ थी, फिर भी पाण्डित्य प्रदर्शन उनका ध्येय नहीं था। उनकी अभिरुचि तो एकमात्र अध्यात्म का प्रचार-प्रसार, आध्यात्मिक चिन्तन, मनन व आत्मानुभवन में थी।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि अमर कृतियों के बल पर अमरत्व को प्राप्त आचार्य अमृतचन्द्र आज भी अमर हैं। ●

संदर्भ ग्रन्थ सूची

१. **अष्टपाहुड़** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री वीतराग सत्-साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात)

२. **अनागार धर्मामृत** : पंडित आशाधर; जैनग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

३. **कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा** : स्वामी कार्तिकेय; श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास

४. **जैन संदेश शोधांक ५** : पंडित कैलाशचन्द्रजी; भा० दि० जैन संघ, मथुरा

५. **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग १** : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

६. **जैनधर्मसार** : सर्वसेवा संघ प्रकाशन; राजघाट, वाराणसी

७. **छहढाला** : पंडित दौलतराम; श्री दि० जैन स्वा० मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

८. **तत्त्वार्थसार** : आचार्य अमृतचन्द्र; श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, डुमरावबाग, अस्सी, वाराणसी–५

९. **तत्त्वार्थवार्त्तिक** : आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी–५

१०. **तत्त्वानुशासन** : आचार्य समंतभद्र; संपादक – पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

११. **तत्त्वार्थसूत्र** : आचार्य उमास्वामी; श्री दि० जैन स्वा० मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१२. **तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ** : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४ बापूनगर, जयपुर-४

१३. **द्रव्यसंग्रह** : आचार्य नेमिचंद; श्री दि० जैन स्वा० मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१४. **धर्मरत्नाकर** : आचार्य जयसेन; जैन संस्कृति-संरक्षक संघ, सोलापुर

१५. **न्यायदीपिका** : धर्मभूषण यति; वीर सेवा मंदिर, दिल्ली

१६. **नयचक्र** : माइल्ल धवल; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

१७. **प्रवचनसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री वीतराग सत् साहित्य-प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर (गुजरात)

१८. **प्रवचनसार (तत्त्वदीपिका)** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

१९. **पंचास्तिकाय (समयव्याख्या टीका)** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र; श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

२०. **पंचास्तिकायसंग्रह** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर (गुजरात)

२१. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचन्द्र; नाथूराम प्रेमी, श्रीमद् राजचंद आश्रम, अगास, वि० सं० २०१७

२२. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचन्द्र; श्री दि० जैन स्वा० मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२३. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; उग्रसेन जैन, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, सराय मुहल्ला, रोहतक

२४. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : आचार्य अमृतचंद्र; पंडित मक्खनलाल शास्त्री; भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

२५. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका** : पंडित टोडरमल तथा पं० दौलतराम कासलीवाल; मुंशी मोतीलाल शाह, किशनपोल बाजार, जयपुर

२६. **परमाध्यात्मतरंगिणी** : आचार्य अमृतचंद्र; श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था, शान्तिवीरनगर, पो० श्री महावीरजी

२७. **पंचसंग्रह** : आचार्य अमितगति; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-५

२८. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** : पंडित टोडरमल; श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

२९. **योगसार** : आचार्य योगीन्दुदेव; श्रीमद् राजचन्द आश्रम, अगास

३०. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** : आचार्य समन्तभद्र; सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जवाहरगंज, जबलपुर

३१. **रयणसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; वीर निर्वाण भारती, शीतलामाता बाजार, इन्दौर

३२. **लघुतत्त्वस्फोट** : आचार्य अमृतचंद्र; अप्रकाशित

३३. **समयसार** : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दि० जैन स्वा० मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

३४. **समयसार (आत्मख्याति टीका)** : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचंद्र; श्री दिग० जैन मुमुक्षुमंडल, १७३-१७५, मुंबादेवी रोड, बम्बई–२

३५. **समयसार (देशभाषामय वचनिका)** : आचार्य कुन्दकुन्द; वचनिकाकार पण्डित जयचंदजी; श्री दि० जैन स्वा० मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़

३६. **सर्वार्थसिद्धि** : आचार्य पूज्यपाद; भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी–५

३७. **षट्प्राभृत (श्रुतसागरीय टीकासहित)** : आचार्य कुन्दकुन्द; माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, बम्बई–४

३८. **ज्ञानार्णव** : आचार्य शुभचन्द्र; श्रीमद् राजचंद आश्रम, अगास, आणंद

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्रमण (मासिक) वाराणसी; फरवरी, १९७८

लेखिका का यह एम० ए० की पढ़ाई के अन्तर्गत लिखा गया एक लघु शोध-प्रबन्ध है। इसमें लेखिका ने १०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के क्षत्रिय कुलोत्पन्न सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य भगवद् कुन्दकुन्द के अध्यात्म-ग्रंथों के अप्रतिम टीकाकार और उनके मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आचार्यश्री का सुप्रसिद्ध एवं निश्चयनयमूलक श्रावकाचारपरक ग्रन्थ है, जिसका परिचय लेखिका ने विस्तृत रूप में दिया है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले छात्रों को यह कृति अवश्य पढ़नी चाहिए।

लेखिका ने इस निबन्ध के प्रणयन में अनेक रचनाओं का अध्ययन तो किया ही, उसे अपने विद्वान् पिता का भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर सुविस्तृत रूप से लिखने की महती आवश्यकता का प्रारम्भ सौ० शुद्धात्मप्रभा ने कर दिया है। इस सुरुचि सम्पन्नता के लिए लेखिका को बहुत-बहुत बधाई।

सन्मति सन्देश (मासिक) दिल्ली; जनवरी, १९७८

समीक्ष्य प्रकाशन एक लघु शोध-प्रबंध है, जो राजस्थान विश्वविद्यालय की एम० ए० की संस्कृत परीक्षा के तृतीय प्रश्नपत्र के विकल्प में स्वीकृत होकर हमारे समक्ष प्रस्तुत है। अभी तक अध्यात्म की गंगा प्रवाहित करने वाले महान् तत्त्वदर्शी आचार्य अमृतचन्द्र अपने महान् व्यक्तित्व और विशाल कृतित्व से समाज में वांछित परिचय से अपरिचित रहे हैं। उसका परिचय कराने का प्रयास इसमें किया गया है। यद्यपि इसमें उसकी यथेष्ट पूर्त्ति तो नहीं कही जा सकती है, किन्तु फिर भी ज्ञातव्य का परिचय इस प्रकाशन से प्राप्त हो ही जाता है; क्योंकि इसमें भी पूर्ण शोध की आंशिक पूर्त्ति की गई है।

प्रस्तुत कृति पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में आचार्यश्री का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्याय में उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचयात्मक अनुशीलन किया है। तृतीय अध्याय में ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय की संक्षिप्त रूपरेखा है। चतुर्थ अध्याय में भाषा शैली और उसके कलात्मक पक्ष पर विचारणा प्रस्तुत की गई है, एवं पंचम अध्याय में सम्पूर्ण विषय का उपसंहार किया गया है। अन्त में ३८ सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची का परिशिष्ट भी दिया है।

इस प्रबन्ध में आचार्यश्री की जो विवेचन की शैली निश्चय-व्यवहार से वस्तु के अन्तःबाह्य स्वरूप के स्पष्टीकरण की है, लेखिका का आचार्य के उस भाव में प्रवेश करने का प्रयत्न भी सफल रहा है। क्योंकि लेखिका को इस तत्त्वस्वरूप को परखने की कला सूक्ष्मतत्त्वदर्शी अपने पिता डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल से विरासत में मिली है। आचार्य ने इस चरणानुयोग के ग्रन्थ में

जो उच्च मापदण्ड और आयाम प्रदान किये थे, लेखिका ने उसका उसी स्तर पर मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। शोधार्थी एवं स्वाध्यायी बन्धु भी इसका उपयोग करके लाभ उठा सकते हैं। **–पं० प्रकाशचंद 'हितैषी'**

सन्मतिवाणी (मासिक) इन्दौर; फरवरी, १९७८

राजस्थान विश्वविद्यालय की अनुमति से एम० ए० के लिए शोध-प्रबंध के रूप में लिखी गई यह रचना पांच अध्यायों में विभक्त है। आचार्य अमृतचन्द्र का जीवनवृत्त और व्यक्तित्व, उनकी रचनाओं का परिचय, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय की रूपरेखा, आचार्यश्री की भाषा शैली एवं कलात्मक पक्ष और उपसंहार; यह प्रस्तुत कृति की विशेषता है। **हमें तो विषय के प्रस्तुतीकरण, टाइप व छपाई की दृष्टि से गागर में सागर की-सी यह रचना लगी।**

–पं० नाथूलाल शास्त्री, अध्यक्ष, भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

वीर-वाणी (पाक्षिक) जयपुर; १८ फरवरी, १९७८

लेखिका ने एम० ए० के लिए शोध-प्रबन्ध रूप में यह रचना की है। १०वीं शती के उत्तरार्द्ध के आचार्य अमृतचन्द्र ने ग्रन्थ में श्रावकधर्म, चारित्र, सम्यग्दर्शन आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

लेखिका ने विषय का प्रतिपादन सुन्दर ढंग से किया है। ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन तो किया ही है – अपने पिता श्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल का पूर्ण सहयोग भी उन्हें प्राप्त हुआ है। एम० ए० के छात्रों के लिए शुद्धात्मप्रभाजी एक मार्गदर्शक बन गई हैं, कि वे भी इस प्रकार जैन ग्रन्थों पर शोध-प्रबन्ध लिखें। पुस्तक की छपाई-सफाई सुन्दर है। **– भंवरलाल न्यायतीर्थ**

जैनमित्र (साप्ताहिक) सूरत; १९ जनवरी, १९७८

बेटी शुद्धात्मप्रभा ने अपने पिताजी के अनुरूप ही कार्य किया है। जैसे पिताजी विद्वान् हैं उसी प्रकार आप भी विदुषी हैं। हमें लगता है शुद्धात्मप्रभा की रुचि उनकी पैत्रिक सम्पत्ति है।

शोध-खोज का कार्य गुरुतर होता है। शोधक को कितना महान् श्रम करना पड़ता है यह तो भुक्तभोगी ही जानता है।.....यह शोध प्रबन्ध मनीषी साहित्यकारों और ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि में अवश्य ही प्रशंसनीय होगा। शुद्धात्मप्रभा का प्रयास प्रशंसनीय है, हम उनकी उन्नति चाहते हैं।

श्री गंगाधरजी भट्ट, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

मेरे निर्देशन में चि० शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखित लघुशोध-प्रबन्ध 'आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' एक महत्त्वपूर्ण स्तरीय शोध प्रबन्ध है। शुद्धात्मप्रभा एक श्रमशील प्रतिभाशाली छात्रा है।

प्रस्तुत कृति में जिनअध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य अमृतचन्द्र के सामान्य परिचय के साथ उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' पर संक्षिप्त किन्तु सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

छात्र-जीवन की इस कृति को देखकर लेखिका से साहित्य व समाज को बहुत लाभ मिलने की आशा की जा सकती है।

श्री अगरचंदजी नाहटा, बीकानेर (राज०)

यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है, और भी लिखती रहें।

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन

		रु० पै०
१.	जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३० – ००
२.	मोक्षमार्ग प्रकाशक	[प्रेस में]
३.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	१० – ००
४.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी, *गुजराती, *मराठी, *कन्नड़] (पाकेट बुक साइज में हिन्दी में)	५ – ०० २ – ००
५.	मैं कौन हूँ ?	१ – ००
६.	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य	० – ६५
७.	कविवर पंडित बनारसीदास : जीवन और साहित्य	० – ३०
८.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	३ – ००
९.	सर्वोदय तीर्थ	२ – ००
१०.	अनेकान्त और स्याद्वाद	० – ३५
११.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, असमी, तेलगु, *अंग्रेजी]	० – ४०
१२.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	० – २५
१३.	सत्य की खोज [कथानक]	२ – ००
१४.	अपने को पहचानिए [हिन्दी, गुजराती]	० – ५०
१५.	पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक और उसकी ग्यारह प्रतिमाएँ	० – ३०
१६.	अर्चना (पूजन संग्रह)	० – ४०
१७.	मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)	० – ५०
१८.	बालबोध पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	० – ५०
१९.	बालबोध पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	० – ७०
२०.	बालबोध पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, मराठी)	० – ७०
२१.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ (हिन्दी, गुजराती, *मराठी)	० – ७०
२२.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ (हिन्दी, गुजराती, *मराठी)	१ – ००
२३.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ (हिन्दी, गुजराती, *मराठी)	१ – ००
२४.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१ – २५
२५.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१ – २५
२६.	सुन्दरलेख बालबोध पाठमाला भाग १	० – २५
२७.	युगपुरुष कानजी स्वामी	१ – ००

नोट :– (१) *पुस्तकें प्रेस में हैं ।

(२) जिन पुस्तकों के आगे भाषा के बाबत कुछ नहीं लिखा हुआ है, वे सब हिन्दी में उपलब्ध हैं ।

(३) सोनगढ़ द्वारा प्रकाशित साहित्य भी हमारे यहाँ मिलता है ।